साहित्य चर्चा

पं० ललिताप्रसाद सुकुल
'अध्यक्ष' हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय

प्रकाशक—
हिन्दी पुस्तक एजेंसी
२०३, हरिसन रोड.
कलकत्ता।

"जाको कृपा सरसै बिलसै, हुलसै हिय मेरो मिलिन्द लजाए"

—शुकुल

दो शब्द

साहित्यिक निबन्धोंका यह छोटा-सा संग्रह 'साहित्य चर्चा' के नामसे प्रस्तुत हो रहा है। हिन्दी साहित्यकी उन्नति जिस क्रमसे हो रही है उसे देखकर किसका हृदय विकसित नहीं हो उठता? परन्तु अब समय आ गया है कि हमारे साहित्यका अध्ययन कुछ ऐसे दृष्टि कोणोंसे किया जाना चाहिये कि जिसका ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक महत्व समान हो! इसी उद्देश्यको रखकर इन निबन्धोंकी रचना की गयी है तथा मुझे विश्वास है कि कुछ अंशतक इस पुस्तकके द्वारा साहित्यकी सेवा अवश्य हो सकेगी।

ललिता प्रसाद सुकुल
कलकत्ता विश्वविद्यालय

पर निर्भर है। हो सकता है कि राष्ट्र-संगठनके उपाय सर्वत्र ही एकसे न हों; परन्तु कुछ आवश्यकताएँ तो जरूर ही ऐसी होंगी कि जिन्हें हम अनिवार्य कह सकें; क्योंकि उनका सम्बन्ध ऐसे विराट संगठनसे इतना घनिष्ट एवं अटूट होता है कि उनके बिना किसी प्रकारके संगठनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन्हीं कुछ आवश्यकताओंमेंसे एक एवं सर्वप्रथम है उस राष्ट्रकी भाषा। यदि इस युगमें शक्तिका ध्येय संगठन है तो उसकी एकमात्र युक्ति है भाषा। जिस संगठनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है उसकी जड़ केवल शिक्षापर है। और शिक्षा चाहे जैसी हो और चाहे जिस विषयकी हो, एक भाषाकी अपेक्षा अवश्य करती है। बिना पारस्परिक विचार-विनिमयके हम आत्म-संगठन नहीं कर सकते; किन्तु यह भी बिना एक भाषाके सम्भव नही। यदि संस्कृति एवं उच्च साहित्यिक प्रश्नोंकी बात छोड़ भी दें तो जैसा अभी उस दिन कवि-कुल चूड़ामणि ठाकुर महाशयने कहा था—"यह नितान्त आवश्यक है कि प्रान्तों और देशके बीच राजनीतिक तथा व्यापारिक एकता स्थापित करनेके लिये एक मुख्य भाषा होनी ही चाहिये।" और अब तो यह बात इतनी दूर तक

पहुच गयी है कि इसपर किसी भी विचारशील व्यक्तिको जरा भी सन्देह हो ही नहीं सकता। किंतु अब भी कभी कभी और कहीं कहीं प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा कौनसी हो सकती है ? इस विषयमें भी भारतीय राष्ट्र-विधायकोंने एवं राष्ट्रके एक बहुत बड़े अङ्गने, अपना मत निश्चित कर लिया है और उनका यह निश्चय किसी पक्षपातकी भावना पर नहीं, वरन् सर्वमान्य युक्ति-सगत न्यायोचित सिद्धांतों पर अवस्थित है। सच बात तो यह है कि राष्ट्रभाषाके गौरव की अधिकारिणी केवल वही भाषा हो सकती है जो राष्ट्र-के सबसे बड़े समूहके द्वारा व्यवहृत होती हो, जिसमें इतनी क्षमता हो कि वह ऊँचेसे ऊँचे विचारोंको उचित गम्भीरताके साथ राष्ट्रव्यापी सन्देश बना सकती हो और साथ ही इतनी सरल एवं सुललित भी हो कि अन्य भाषा-भाषी इसके परिशीलनमें विशेष कष्टका अनुभव न करें।

यों तो एक समय था कि भारतीय प्रान्तोंकी प्राय सभी भाषाएं चुनावके अखाड़ेमें उतर पड़ी थीं और अपनी अपनी विशेषताओंके मत्थे 'राष्ट्रभाषा' होनेका दावा पेश करती थीं। किसीको गर्व था अपने तीखेपन

पर तो किसीको अपनी विशेष कोमलता पर। यदि एकने आधुनिक युगके सर्वमान्य महापुरुषको पैदा किया था तो दूसरीने सबसे सुन्दर राजनीतिक निबन्ध-लेखक को। इसी प्रकार तीसरीका दावा था अपने परम समुन्नत साहित्य एवं कविता और उपन्यासोंपर—और साथ ही साथ अपनी अपनी प्राचीनताका गुमान भी किसीको कम न था। परन्तु धीरे धीरे समय बदलता गया और तथ्यके सुलझनेमें विशेष देर न लगी। क्या प्राचीनता और क्या उपयोगिता, प्रायः सभी दृष्टियोंसे सबको अपनी सबसे बड़ी बहन 'हिन्दी' का ही अधिकार स्वीकार करना पड़ा। अब भी कहीं कहीं आवाज उठती है कि हिन्दी तो हिन्दुओंकी भाषा है, अतः मुसलमान इसे स्वीकार नहीं कर सकते और यदि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है तो उर्दू ही क्यों न हो? इसे सुनकर आश्चर्य एवं दुःख दोनों का ही अनुभव होता है। इस प्रस्तावको पेश करनेवाले यह सोचनेका कष्ट नहीं उठाते कि यदि हिन्दी हिन्दुओं-की भाषा है तो उर्दू किसकी भाषा है?

यद्यपि मेरे लिये यहां यह सम्भव नहीं कि मैं 'उर्दू' नामक भाषाका इतिहास आपके सम्मुख रखूँ; परन्तु फिर

भी कुछ आवश्यक बातें सामने रखना जरूरी समझता हूं। भाषाका पारस्परिक भेद केवल उसकी शब्दावलीपर ही निर्भर नहीं रहता, वरन उसकी व्याकरण-विषयक अन्य विशेषताओंपर ही होता है। अब इस दृष्टिसे यदि उर्दू नामक भाषाका अध्ययन किया जाय तो यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि शब्दावलीको छोड़कर अन्य किसी प्रकार भी वह फारसी या अरबीके निकट नहीं है; वरन उत्पत्ति-काल से ही उसका ढाँचा हिन्दीकी 'खड़ी बोली' के सांचेमें ही ढल चुका है। हां इधर कभी कभी देखनेमें आता है कि कुछ व्यक्ति इस प्रचचित भाषाको भी फारसीके पुराने एवं अप्रचलित ढाँचेमें ढालनेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु ऐसे प्रयत्न भाषामे अस्वाभाविकताके अतिरक्त और कोई गुण नहीं उत्पन्न कर सकते। इंशा, दाग़, मीर और ग़ालिब की यह भाषा जिस समय अपने सर्वोच्च शिखरपर थी उस समय अरबी और फारसीके प्रचलित शब्दोंके होते हुए भी इसमें एक विशेष स्वाभाविकता थी और था एक अनोखा लालित्य; क्योंकि तब उनकी यह भाषा यहांके जनसाधारणकी भाषाके सांचेमें ढल रही थी और साथ ही साथ उसमें नवीन शब्दों और भावोंका योग देकर उसे

भी समुन्नत कर रही थी। वह भाषा शब्दावलीको छोड़कर और किसी प्रकार हिन्दीसे भिन्न न थी। आधुनिक अस्वाभाविक पार्थक्यकी भावनाका उसमे लेश भी नहीं पाया जाता था। इसे हम मुसलमानोकी हिन्दी ही कहेंगे और वास्तविक बात भी यही है कि यह भाषा हिंदीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वर्त्तमान राजनीतिक कटुताके कारण हमारी दृष्टिकी समतामें भी भेद पड़ चुका है; परन्तु राष्ट्रके निर्माण एवं उसके संगठनका क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत और व्यापक है। वहांका कोई पार्श्व संकुचित दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता। अतः हमारा प्रस्तुत अवसर भी हमे बाध्य करता हे कि हम इन प्रश्नो पर अधिक उदार एवं सुलझी हुई दृष्टिसे विचार करें।

यों तो प्रत्येक कालमें देशके विविध भागोंकी भाषाएं भिन्न भिन्न रह चुकी हैं; किन्तु इतिहासका पन्ना इस बातकी साक्षी देगा कि 'ब्रह्मावर्त' जो अनादि कालसे ही आर्य सभ्यता एवं संस्कृतिका केन्द्र रहा है, वहांकी भाषा सदासे ही अधिक व्यापिनी एवं प्रभावशालिनी रही है। यदि प्राकृत और अपभ्रंशके युगमे शौरसेनी थी तो मुगल साम्राज्यमें उनकी भाषा फारसी भी यही फली-फूली

और बाद उसने भी अपना काया-पलट यहींकी भाषा हिन्दीमें कर दिया और आज भी हम यहींकी भाषा हिन्दी-को सबसे अधिक व्यापिनी एवं प्रभावशालिनी पाते हैं। आजसे १२०० वर्ष पहले इस हिन्दी भाषाका जन्म उसी पुण्य-क्षेत्रमें हुआ था जिसे अनादिकालसे आर्य सभ्यताके उच्चतम गौरव-शिखरके धारण करनेका असाधारण गर्व प्राप्त था तथा जहां पर आर्य वीरताने अपनी अखण्ड कीर्तिकी अलंध्य पताका सदाके लिये फहरा दी थी। सूर तुलसी और मीराकी पवित्र जिह्वापर बैठकर यदि इसने ऊपर भक्तिकी सृष्टि की है तो चन्द, जगनिक, भूषण, और लालकी लेखनीमें बैठकर इसने सोते हुए महाराष्ट्रके जगानेमें भी कसर नहीं रखी। यदि खुसरो मौजभरी चुटकियां लेते हैं, कबीर और मलूक ज्ञानका मार्ग दिखाते हैं, तो रहीम, गिरिधर और तोष भी जीवनके सच्चे अनुभवसे खाली नहीं रहने देते। घाघ और भड्डरी भी देहात-की दानाईसे हमें चकित कर देते हैं। इसी प्रकार यदि देव, बिहारी और मतिराम शृंगारकी अलौकिक सृष्टि करते हैं तो रसखान भी कृष्णकी परम भक्तिमें सनी हुई वंशी बजा बजाकर हमारा चित्त बरबस अपनी ओर खींच

लेते हैं। इतना रस और इतने प्रकार एक ही भाषामें एक-सी सफलताके साथ लाये जा सके, यह सचमुच एक आश्चर्यकी ही बात है। जिस भाषामें इतने ओज, इतनी कोमलता तथा इतनी प्रौढ़ताकी क्षमता हो कि वह छोटे-से-छोटे तथा गम्भीर-से-गम्भीर मनोभावोंको एक-सी कुशलताके साथ व्यक्त कर सके वह भाषा निस्सन्देह ही सबसे अधिक व्यापिनी एवं प्रभावशालिनी होगी ही।

राष्ट्रभाषाके पद्को केवल गौरवका चिन्ह ही समझ लेना एक बड़ी भूल होगी। इस गौरवके पीछे एक बहुत बड़ी सेवा और कार्य साधनकी शक्ति भी अपेक्षित है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी भारतीय राष्ट्रके उस बड़े जनसमुदायकी भाषा है जो पञ्जाबसे लेकर बिहारतक और दक्षिणमें महाकौशल, मालवा तथा मध्य भारतके प्रान्तोंमें निवास करता है। अन्य प्रान्तोंमें जहां दूसरी भाषाएं बोली जाती हैं वहां भी इन उपर्युक्त प्रान्तोंके निवासी बहुत अधिक संख्यामें जा बसे हैं। इस कारण उन प्रान्तोंमें भी हिन्दीकी पैठ अपने आप हो गयी है। यह भी प्राय; देखा गया है कि अन्यभाषी प्रान्तोंके निवासी जितनी सरलतासे हिन्दीको ग्रहण कर लेते हैं उतनी सर-

लतासे कदाचित दूसरी भाषाको ग्रहण नहीं कर पाते। इसका मुख्य कारण यही है कि हिन्दी ब्रह्मावर्तकी भाषा होनेके कारण संस्कृतके अत्यन्त सन्निकट है और अन्य सभी भाषाओंपर सस्कृतकी अमिट छाप होनेके कारण हिन्दी सहसा उनके सन्निकट हो जाती है। इसके अति-रिक्त उसमें इतनी नैसर्गिक व्यापकता है कि वह बिना किसी विशेष कठिनाई अथवा अस्वाभाविकताके ही अन्य प्रान्तीय भाषाओंमें घुल-मिल जाती है तथा उन्हें अपनेमें मिलाकर अपना रूप प्रदान कर देती है। इसकी यह नीति इसे प्रति दिन अधिक प्रौढ़ एवं सुसम्पन्न बनाती जाती है। प्राचीन समयसे ही इसने आदान-प्रदानके विषयमें अपनी नीति उदार रखी है। इसकी शब्दावलि संस्कृतके शब्दोंकी उत्तराधिकारिणी तो है ही; साथ ही अन्य प्रान्तीय एवं विदेशीय भाषाके शब्दोंकी भी कमी यहाँ नहीं देख पड़ती। कहींका कोई शब्द या महावरा यदि भाव-यजनामें सुविधा उपस्थित करता है तो उसे हिन्दीने सदाके लिये अपना लिया है। कदाचित् यही कारण है कि किसी भी अन्य प्रान्तका निवासी हिन्दीको अनायास ही समझ जाता है और इसके बोलनेमें किसी विशेष संकोच-

का अनुभव नहीं करता। वरन् स्थल स्थलपर इसमें वह अपनी ही बोलीके चिह्न पाता है और परायेपनकी भावना उसके चित्तमें नही उठने पाती। इन उपर्युक्त गुणोंका सबसे बड़ा प्रमाण हमें दक्षिणके उन प्रान्तोंमें मिलता है जहांपर अनार्य भाषाएं बोली जाती हैं। हममेंसे जिन्हें मद्रास प्रान्तमें हिन्दी-प्रचार-कार्यको देखनेका अवसर मिला होगा वे कह सकेंगे कि लगभग दस वर्षके भीतर ही वहाके लाखों आदमियोंने हिन्दी भाषा सीख ली और वे बिना किसी विशेष असुविधाके ही हिन्दीको राष्ट्र-भाषा स्वीकार करनेके लिये तैयार है। राइट ओनरेबल पं० श्रीनिवास शास्त्री कहते हैं कि"यदि मैं भारतीय राष्ट्र का डिक्टेटर होता तो अपनी सारी शक्ति लगाकर सारे स्कूलों,कालेजों,दफ्तरों तथा सरकारी न्यायालयोंमें हिन्दु-स्तानी भाषाका ही प्रचार कर देता।" निश्चय ही यह तो तभी हो सकता है जब कि ऐसे विचारशील पुरुषोंने हिन्दीमें इतनी बड़ी सेवा-सम्पादनकी क्षमता देख ली हो।

पिछली मनुष्य-गणनाके अनुसार भारतवर्षमें हिन्दी समझनेवालोंकी संख्या ७५—८ प्रतिशत है तथा हिन्दी बोलनेवालोंकी संख्या ६८'६ प्रतिशत है। यह तो हुई संख्या

की बात; किन्तु किसी भाषाका महत्व केवल उसके तात्विक सिद्धान्तोंसे ही नहीं मापा जा सकता; वरन् उसके साहित्य की उच्चता भी उसके महत्वकी एक कसौटी हुआ करती है। अब यदि इस दृष्टिसे हिन्दी-साहित्यकी थोड़ी-सी जांच की जाय तो बिना किसी विशेष कठिनाईके ही यह बात समझमें आ जाती है कि आदि कालसे ही इस भाषाका साहित्य भावी भारतीय राष्ट्रकी प्रतीक्षा कर रहा था और यथासम्भव उसके विविध अंगोंकी पूर्ति करके उसे राष्ट्र-निर्माणके सुदृढ़ पथ पर अग्रसर कर रहा था। यद्यपि हिन्दी साहित्यके सम्पूर्ण इतिहासका उल्लेख करना हमारा उद्देश्य नही है, तथापि उसकी वे चिरस्मरणीय सेवाएं, जो उसने समय-समय पर की थी और जिन्हें हम अपने आधुनिक राष्ट्रके प्रथम सोपान कह सकते हैं, उनका उल्लेख न करना क्षम्य न होगा।

हममेसे जिन्होंने हिन्दीके रासो-साहित्यका अध्ययन किया होगा वे कह सकेंगे कि उनमें विदेशी आक्रमण-कारियोंके विरुद्ध आत्म-संगठन करनेके लिये कितनी आर्त-पुकार भरी हुई है। देश और जन्मभूमिके प्रेमके उनमें कितने अनूठे चित्र अंकित हैं और साथ ही साथ

सच्ची वीरता और आत्मत्यागके जोशसे वे किस क़दर लबालब हैं। कौन विद्वान् यह कहनेका साहस कर सकता है कि भारतीय साहित्यमें देश प्रेम अथवा राष्ट्रप्रेमके लिये स्थान ही नहीं था, अथवा 'Patriotic Note' का आह्वान तो अब केवल वर्त्तमान युगकी नवीनता है? ऐसा कहना केवल उनके अज्ञानका सूचक हो सकता है। और रासो साहित्यने ऐसे वीर उत्पन्न कर दिखाये जिन्होंने दुर्दिनके अन्धकारमे भी स्वतन्त्रता और आत्म-संगठन का राग अलापकर मृतप्राय आर्य जातिको फिरसे जिलानेका सफल प्रयत्न किया था। महाराज छत्रसाल और वीर-शिरोमणि शिवाजीकी अमर कीर्त्तिमें कविवर लाल और भूषणका कितना भाग है, यह बतानेकी आवश्यकता नही। यह भी तो राष्ट्र-निर्माणकी ही एक सीढ़ी थी। अब यदि इस पार्श्वको छोड़कर राष्ट्रके मानसिक संगठनकी ओर हम दृष्टिपात करे तो कबीर, तुलसी, सूर, नानक, रैदास, सहजा, विद्यापति, वृन्द, गिरिधर, दादू और स्वामी दयानन्द इत्यादिने कितनी बड़ी सेवा की है, इसे कौन नहीं जानता है? धार्मिक संकटके उस महा भयंकर समयमें, जिस समय जनताका चित्त भय, त्रास,

और शंकासे डांवाडोल हो रहा था, उस समय सत्य और विश्वासकी दिव्य ज्योति जगाने वाले इन महात्माओंके अतिरिक्त और इतना शक्तिशाली कौन हो सकता था जो लाखों मनुष्यको शान्ति प्रदान करता ? केवल यही नहीं, वरन उतनी अगणित आत्माओंको आत्म-संयमका पाठ पढ़ाकर एक सूत्रमें बांधकर युगों तक रखने वाली उनकी शक्तिके अतिरिक्त और दूसरी कौनसी शक्ति हो सकती थी ? आज भी 'रामचरित-मानस' न जाने कितने करोड़ व्यथित हृदयोंको सन्मार्गका उपदेश करता है। कबीरका 'बीजक' अगणित हृदयोंमें प्रेम, सत्य और लगनका सुन्दर बीज बो रहा है। आज भी अष्टछाप देशमे स्नेह और प्रीतिकी अगणित नदियां बहाकर लाखों पवित्र हृदयोंपर अपनी अमिट छाप लगा रहा है। तब क्या आत्मसंयमका पाठ पढाने वाली तथा मानसिक संगठन करने वाली इससे भी बड़ी शक्तियां आजतक किसी राष्ट्र को कभी प्राप्त हो सकी थी ? हो सकता है कि कोई किसी अन्य देशके अधिक ऊँचे साहित्यकी दोहाई दे। परन्तु एक बात स्मरण रखनी होगी कि अन्य सर्वत्र ही साहित्यके निर्माता केवल साहित्यके ही सेवक थे और

निस्सन्देह उन्हें साहित्यका पाण्डित्य भी प्राप्त था। परन्तु इस विषयमें भारतको जो विलक्षण सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह कदाचित् संसारके किसी देशको भी नहीं प्राप्त हो सका। अर्थात् हिन्दी-साहित्यका निर्माण उन महात्माओंके पवित्र हाथोंसे हुआ था जो साहित्यके पण्डित तो थे ही किन्तु इससे भी कहीं ऊपर थे वे परम तपस्वी और उच्चकोटिके भक्त। हिन्दी-साहित्यका स्वर्ण-युग उन रत्नोंसे आभूषित है जिनका एक एक कण मानव हृदयके पवित्रतम कोनेसे बड़ी ही सरस, सुन्दर तथापि पुनीत भावनाको लेकर उत्पन्न हुआ था; यही कारण है कि इस साहित्यका प्रभाव इतना प्राचीन होते हुए आज भी इतना नवीन है, क्योंकि लोग कहते हैं कि 'सत्य कभी पुराना नहीं होता'।

यों तो संसारका प्रत्येक साहित्य अपने अपने आदर्श लेकर ही उत्पन्न होता है और बहुतसे अंशोंमें उनकी परिपाटियाँ भी एक दूसरेसे भिन्न होती हैं, तथापि इतनी विभिन्नता होते हुए भी प्रत्येक उच्च साहित्यमें एक आन्तरिक समानता अवश्य होती है; और इसीको कहते हैं विश्व-साहित्यकी कसौटी। इसका बहुत अधिक विश्ले-

षण न करके केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह मुख्यतया मानव-हृदयकी उन समानताओंपर अवस्थित है जो विश्व-व्यापिनी हैं तथा जिनका सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष अथवा देश-विशेषसे न होकर मनुष्य-मात्रसे हुआ करता है। इस सच्ची कसौटीपर यदि हम अपने साहित्यको कसते हैं तो निष्पक्ष भावसे यह सिद्ध हो जाता है कि इसकी अपील केवल भारतीय हृदय तक ही परिमित नहीं है, वरन वह तो विश्वको प्रभावित करनेकी शक्ति रखती है। इसके प्रमाणके लिये मुझे दूर न जाना होगा। आपके सम्मुख मैं केवल उस छोटी सी पुस्तकका ही नाम लूंगा जिसे आधुनिक संसार 'Hundred Poems of Kabır' के नामसे ही जानता है। यद्यपि यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि इस छोटी सी पुस्तकमें कविवर ठाकुर, कबीरका सर्वस्व नहीं ला सके हैं और न शायद उनके सबसे सुन्दर शब्दोंका संग्रह ही किया जा सका है; तथापि अमेरिका और यूरोप जैसे सुदूरवर्त्ती देशोंने इस पुस्तकका जितना आदर किया है वह हमारे उपर्युक्त कथनको अक्षरशः सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है। इस विलक्षण

प्रभावका कारण मैंने ऊपर संक्षेपमे बतानेका प्रयत्न किया है, अतः उसे दुहरानेकी आवश्यकता नही। इन महत्वपूर्ण प्रश्नोंपर विचार करते समय एक प्रश्न निरन्तर हमारे सम्मुख रहता है कि वह कौन सी युक्ति हो सकती है कि जिसके द्वारा यह अलौकिक निधि सारे राष्ट्रकी हो जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति उससे एक-सा ही लाभ उठा सके? यह प्रश्न सम्मुख आते ही पुनः राष्ट्रके लिये एक भाषाकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। अभी उस दिन राष्ट्रभाषाके समर्थक एक विद्वान्ने कहा था कि यद्यपि राष्ट्र-सगठनके लिये हमें एक ही भाषाकी आवश्यकता है और वह होनी भी चाहिये, लेकिन तो भी विभिन्न प्रान्तिक भाषाओंके द्वारा साहित्यकी वृद्धि रुकनी नही चाहिये। इसके समर्थनमें उन्होंने यूरोपका उदाहरण देते हुए कहा था कि "जब तक वहांके लेखक लैटिन भाषामें अपने भाव प्रकाश करते थे तब तक कोई उच्चकोटिका साहित्यके लोग तैयार न कर सके; परन्तु ज्योंही वे लोग अपनी अपनी भाषाओंमें अपने भाव प्रकट करने लगे त्योंही साहित्य उच्च स्थानपर पहुच गया।" युरोपके लिये सचमुच यह बात ठीक हो सकती है,परन्तु बिलकुल

वही बात भारतके लिये लागू नहीं। क्योंकि वहाँकी विभिन्न भाषाओंसे जो सम्बन्ध 'लेटिन' का था वही सम्बन्ध हमारी हिन्दीका अन्य भारतीय प्रान्तिक भाषाओंसे नहीं है। हो सकता है कि संस्कृतसे सम्बन्ध कुछ वैसा हो जाय। इसके अतिरिक्त एक दूसरी कठिनाई यह उपस्थित हो जायगी कि तब फिर हमारे देशके प्रतिभावानोंकी प्रतिभा प्रान्तीय भाषाओ तक ही सीमित रह जायगी और उसका प्रभाव व्यापक न हो सकेगा। बात जहाँ की तहाँ ही रह जायगी और लोगोंको अनुवादोंके अतिरिक्त फिर और कोई सहारा न रह जायगा। यह परिस्थिति भी अधिक वाञ्छनीय न होगी, क्योंकि इसमें राष्ट्र-भाषाका मूल्य ही क्या रह जाता है? कुछ विचारशील पुरुषोंका अनुभव है कि हिन्दी भाषाका व्याकरण कुछ अधिक सरल किया जाना चाहिये तथा उसके नियमोंमें थोड़ीसी व्यवस्था और होनी चाहिये। मुझे खेद है कि मैं अपने मित्रोंसे अधिक दूर तक सहमत नहीं हो सकता। किसी भी प्रचलित जीवित भाषाको व्याकरणके नियमोंसे जकड़नेके प्रयत्नमें कभी सफलता नहीं मिल सकती। इस कथनसे कोई यह न समझे कि व्याकरणके नियमोंका

मूलोच्छेद अभिप्रेत है। वरन कहनेका आशय केवल यही है कि किसी भी जीवित भाषाकी सबसे बडी आवश्यकता यह है कि उसमें वृद्धिके लिये काफी स्थल रहना चाहिये, तथा नवीन प्रयोगोंके समावेशकी पर्याप्त क्षमता होनी चाहिये, ताकि जीवनकी विविध वृद्धिके साथ ही ज्यों ज्यों हमारे विचारोंका विकास होता जाय तथा उनमें पुष्टता आती जाय त्यों त्यों भाषाकी पुष्टता एवं उसकी परिधि भी बढ़ती जानी चाहिये। यदि ऐसा न हो सका तो समताका क्षय हो जायगा और विकासका क्रम रुक जायगा। इस दृष्टिसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि व्याकरणके कठिन नियमोंका निर्वाह नहीं हो सकता। उन नियमोंकी मृदुता ही उनका परम गुण है, वरन व्याकरणका सुधार इस दृष्टिसे अवश्य किया जाना चाहिये, कि यदि उसके कुछ नियम भाषाके विकासके बाधक होते हों तो उनका परिष्कार शीघ्र ही हो जाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त हमारे सम्मुख एक और सबसे आवश्यक प्रश्न है लिपि का। शिक्षाके प्रचारमें जितना आवश्यक भाषाका प्रश्न है, लिपिका प्रश्न उससे कम आवश्यक

नहीं। जिस प्रकार राष्ट्रको एक भाषाकी आवश्यकता है उसी प्रकार उसे एक लिपिकी भी आवश्यकता है। यह देखकर संतोष अवश्य होता है कि वर्त्तमान युगमें विद्वानोंका ध्यान इस महत्व-पूर्ण प्रश्नकी ओर आकृष्ट हो चुका है और वे लोग निरन्तर इसपर विचार कर रहे हैं, तथापि कभी कभी एक-आध ऐसे बुद्धिमान भी देखनेमें आते हैं जो सरासर उल्टी गंगा बहानेका प्रयत्न करते हैं। टर्की और अन्तरराष्ट्रीयताकी दोहाई देकर वे 'रोमन' लिपिको भारतकी राष्ट्र लिपि प्रमाणित करनेका प्रयत्न करते देख पड़ते हैं। ऐसे ही कुछ सज्जन भूतकालमें अंग्रेजीको ही राष्ट्रभाषा बनानेका स्वप्न भी देख चुके है। यदि टर्कीने रोमन लिपिको अपनाया तो इसके पास चारा ही क्या था? क्योंकि वहां तो उनकी कोई लिपि थी ही नहीं। वहांकी प्रचलित लिपि अरबी यदि वे न रख सके तो उसका कारण था उसकी अवैज्ञानिकता; परन्तु भारतवर्षको इसकी क्या आवश्यकता? यहांकी देवनागरी लिपि जो स्वरोंकी बाहुल्यतामें तथा अपनी स्वाभाविक वैज्ञानिकतामें आज भी अपना सानी नहीं रखती, उसे रोमन जैसी संदिग्ध, अपूर्ण और क्लिष्ट लिपिसे परिवर्त्तित

करना कहांकी बुद्धिमानी होगी? रोमनकी सबसे बड़ी खूबी उसके अक्षरोंकी सख्याकी कमीमे देखी जाती है, परन्तु यदि रोमनके समर्थक जरा निष्पक्षभावसे देवनागरी लिपीपर विचार करें तो उन्हें पता लग जायगा कि देवनागरीकी अक्षर-संख्या भी रोमनके लगभग बराबर ही ठहरती है। क्योंकि संयुक्ताक्षरोंको पृथक करना ही होगा और वे तो रोमन लिपिमें भी ज्योंके त्यों लाने ही पड़ेंगे। अब रही बात छपाई की। कदाचित् हमारे मित्र गोविलजीके सराहनीय प्रयत्नोंसे जनता भली-भांति परिचित है, जिन्होंने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे हिन्दीमें 'लिनोटाइप' की सृष्टि कर दी है और वह रोमन लिपिसे किसी भांति न्यून नहीं। और अभी तो प्रारम्भिक अवस्था है। यदि हमारी प्रगति ऐसी ही रही तो कौन कह सकता है कि शायद एक दिन देवनागरीके ही अक्षर छपाई के लिये भी अधिक उपयुक्त सिद्ध न हो जांय। इसका चलन यूरोपमे नहीं है, यह कहना युक्ति-संगत नहीं समझ पड़ता। क्योंकि हमे तो पहले अपने देश-निवासियोंकी सुविधाका ही विचार करना अधिक आवश्यक है। हममें-से कितनेको यूरोपकी सैर करनी बदी है या कितनोंको

उनके सम्पर्कमें आना पडता है? यह संख्या इतनी अल्प एवं नगण्य ठहरती है कि उसके पीछे सारे देशको असुविधामें परिप्लावित कर देना कभी वांछनीय नहीं हो सकता। देवनागरी लिपिकी यह भी एक विशेषता है कि हिन्दी भाषाके समान वह भी प्रायः सभी अन्य भारतीय प्रचलित लिपियोंके अत्यन्त सन्निकट है। अतः उसे सीखनेमें किसीको कोई विशेष अड़चन नहीं पड सकती। उच्चारणका तो भेद है ही नहीं। केवल आकृति मात्रका थोडा सा अन्तर है। परन्तु उसमें भी पारस्परिक समता इतनी अधिक है कि कठिनाई विशेष नहीं रह जाती। आर्य संस्कृतिकी लिपि तथा इसके पुनीत स्वरोंके संरक्षणका श्रेय भी हिन्दी भाषाके ही भागमें पडा था। और इसके मिस भी उसने राष्ट्रकी एक बहुमूल्य सेवा की है। दैवयोगसे वह दिन भी दूर नहीं दिख पडता जब समस्त राष्ट्र अपनी प्राचीन एवं सुसम्पन्न देवनागरी लिपिको अपना कर अपने संगठनका मार्ग सुलभा लेगा और तब राष्ट्र-संगठनका वह सुवर्ण-स्वप्न जो हिन्दीने आजसे १२०० वर्ष पहले देखा था, अल्प समयमें ही वास्तविकताका रूप धारण करता देख पड़ेगा।

अनादि कालसे ही हिन्दीने, क्या भाषा, क्या भाव तथा क्या लिपिकी प्रौढ़ता, प्रायः सभी प्रकारसे अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। उसके उपलक्षमें राष्ट्रने यदि उसे अपनाया है तो यह उचित ही था। अपनी वर्त्तमान गतिसे भी उसने सिद्धकर दिया है कि भावी समुज्वल युगकी अबाध गतिमे भी वह पूर्ण रीतिसे साथ दे सकती है।

२

हिन्दी गद्यका विकास

आजकल जिधर देखिये उधर ही संसार गद्यमय हो रहा है। क्या पूर्व और क्या पाश्चात्य ; क्या उत्तर और दक्षिण चारों ओर गद्य ही प्रधान हो रहा है। यद्यपि कवि वृन्द चुप नहीं हैं तौभी विकास गद्य हीका अधिक हो रहा है। मनुष्योंपर प्रभाव भी गद्यहीका अधिक है। यह तो कुछ इस युगका ही प्रभाव-सा जान पड़ता है। क्योंकि इस युगमें मनुष्योंका जीवन ही प्रायः ऐसा हो गया है कि उसमें कविताके लिये स्थान बहुत कम है। जीवनमें पहले की मधुर सरसताके स्थानपर अब एक प्रकारकी विरसता-सी आ गयी है। यद्यपि उसका बाह्य रूप कुछ प्रबलताके

चिन्ह दिखाता है तौभी यह मानना ही पड़ेगा कि उसमे अब वह सरसता नहीं है। इसके लिये कारण भी यथेष्ट हैं।

यद्यपि मनुष्य पहले-पहल गद्यमें ही अपने भाव प्रगट करता है तौभी हम यही देखते हैं कि प्रायः सभी साहित्योंमें पद्यहीको स्थान पहले मिला है। वैसे तो यह देखकर कुछ आश्चर्य होता है परन्तु वास्तवमें यह कथन एक साहित्यिक तथ्य है। इसकी परीक्षा प्राचीन-से-प्राचीन किसी भी साहित्यको लेकर की जा सकती है। यदि इस प्रश्नपर थोड़ा-सा ध्यान दिया जाय तो कारण प्रत्यक्ष हो जाता है। उस प्राचीन समयमें जब लेखनशैलीका उद्भव नहीं हुआ था, वरन् जब मनुष्योंको आवश्यक साहित्य कण्ठमें ही संरक्षित रखना पडता था उस समय गद्यकी स्वाभाविकता होते हुए भी मनुष्योंको पद्यहीकी शरण लेनी पड़ती थी। क्योंकि गद्यकी अपेक्षा पद्यको कण्ठ रखना कहीं अधिक सरल है। यही कारण था कि गद्यकी अपेक्षा पद्यको ही साहित्यमें प्रधानता मिली। परन्तु धीरे-धीरे ध्वनिके अनुसार वर्णोंकी रचनाकी गयी और लेखनशैलीका प्रचार हुआ।

परन्तु यह भी एक स्मरण रखनेकी बात है कि लेखन शैलीके प्रचारके पश्चात् भी बहुत समयतक पहलेहीकी प्रधानता रही। इसका मुख्य कारण यही था कि लेखन-शैलीके प्रचारके पश्चात् भी बहुत समयतक यथेष्ट सामग्रीके अभावके कारण लोगोंको साहित्यके कण्ठ ही करनेमे अधिक सुविधा जान पड़ती थी।

परन्तु ज्यों-ज्यों अभाव मिटते गये त्यों-त्यों गद्यमय साहित्यके अंकुर फूटे। और धीरे-धीरे गद्यका विकास होना प्रारम्भ हो गया और जैसे ही छापनेकी युक्ति मनुष्योंके हाथ आयी तब तो मानो साहित्यमे गद्यका भाग्योदय ही हो गया। बात तो वास्तविक यह है कि मनुष्य स्वभावतः सरलताकी ओर झुकता है। अपने जीवनके प्रत्येक कार्यमें वह निरन्तर सरलतर युक्तियोंकी खोजमें रहता है; और साहित्यमें गद्यका विकास मनुष्यकी सारल्य-प्रियताका ही परिणाम है।

अब यदि हिन्दी साहित्यकी ओर दृष्टि डाली जाय तो उधर भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति देख पड़ेगी। वैसे तो सं० १३०० में भी हिन्दी गद्यके कतिपय उदाहरण मिल जाते हैं परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि उस

समयमें गद्यका प्रचार नहीं था। उपर्युक्त साहित्यिक सिद्धान्तोंके अनुसार हिन्दी गद्यका ठीक प्रारम्भ सं० १८०० से होता है और प्राय: यही समय भारतमें छापेखानेके प्रचारका है। गद्य साहित्यका वास्तविक विकास भी इसीके पश्चात्से प्रारम्भ होता है। परन्तु तौभी इसके पहलेके साहित्यकी दशाका निरीक्षण करना आवश्यक है। क्योंकि आजके गद्यकी जड़ भी तो उसी प्राचीन गद्यमें ही थी।

हिन्दी गद्यके विकासकी खोज करते समय एक बात देखकर हमें आश्चर्य होता है कि जहांसे पहले-पहल पद्यका उद्भव हुआ था वहींसे गद्यका भी उद्भव होता है।

सबसे पहला हिन्दी गद्यका उदाहरण जो हमें मिलता है वह एक मेवाड़की सनद है जो संवत् १२२९ में लिखी गयी थी। इसकी भाषा वही चन्दके समयकी पूर्वकालीन हिन्दी है। राजपूतानेमें अब भी ऐसी ही भाषा बोली जाती है। इसे देखनेसे तीन बातें प्रत्यक्ष जान पड़ती हैं। एक तो कुछ शब्दोंके रूप बिलकुल ही संस्कृतकी विभक्ति से युक्त हैं जैसे—'समर सिंहकी आज्ञासे' के लिये लिखा है "समरसीजी वचनातु"।

दूसरी बात यह है कि उसकी क्रियाएं बिल्कुल ही आजकलकी खड़ीबोलीकी-सी हैं जैसे 'लाया', 'जावेगा' और 'होवेगा' और इस भाषामें तीसरी बात यह है कि इस समय तक शब्दोंके रूपमें थोड़ा-सा हेरफेर छोड़कर वे प्राय. आज ही कलकी भाषाके शब्द हैं। जैसे 'आचारज' 'डायजे' 'ओषद' इत्यादि। इस लेखमें एक आधे 'जनाना' इत्यादिक फारसीके शब्द देखकर कुछ ऐसा अनुमान होता है कि उसका भी भाषापर प्रभाव धीरे-धीरे पड़ने लगा था

इस सनदकी भाषाके वाक्य-विन्यासको देखकर यह प्रत्यक्ष विदित हो जाता है कि उसकी भाषाका झुकाव आज कलकी हिन्दी अर्थात् खड़ी बोलीकी ओर था। आश्चर्य नहीं यदि खुसरोकी कविताकी भाषाने पहले पहल अपना रूप यहींसे लिया हो। क्योंकि खड़ी बोलीका सबसे प्राथमिक रूप कुछ अंशोंमें हमें यहीं देखनेको मिलता है।

इसके उपरान्त लगभग २०० वर्षतकके किसी भी गद्यके उदाहरणका पता हमें नहीं लगता। अब लगभग सं० १४०७ में गोरखनाथजीकी लेखनी द्वारा प्राप्त कुछ थोड़ेसे गद्यका पता चलता है।

इनकी भाषामें और उस सनद्की भाषामें बडा अतर है। न तो वह वाक्य-विन्यास है और न वह ढग ही है। इनकी भाषाको 'मिश्रबन्धु' प्रभृति विद्वानोंने यद्यपि व्रज-भाषा माना है परन्तु वह तो कुछ और ही जान पडती है। क्योंकि जहांतक देखा गया है 'पूछिबा और 'करिबा' ये प्राय: व्रजभाषाकी क्रियाओंके रूप नही हैं इसी प्रकार "जा मनुष्यके मन छन मात्र ब्रह्मके विचार बैठो" यह वाक्य भी व्रजभाषाका कदापि नहीं जान पडता। बरन इनकी क्रियाओं तथा इनके वाक्योंको देखनेसे तो पूर्वीपन ही अधिक टपकता है इसलिये यदि इसे पूर्वी हिन्दीके गद्यमें रखें तो अधिक उचित होगा।

भाषाका यह रूप यद्यपि हमें दो सौ वर्षके पश्चात् मिला है तथापि उन दोनोंमें कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। बरन दोनों ही उदाहरण दो पृथक पृथक पौधोंके प्रथमांकुरसे जान पड़ते हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि दूसरेकी भाषामें पहलेकी अपेक्षा शब्द कुछ अधिक स्पष्ट एवं शुद्ध हैं। परन्तु केवल इतनेसे ही हम इस दूसरेको पहलेका विकास नहीं कह सकते।

अब फिर लगभग दो सौ वर्षतक गद्यका पता नहीं

चलता। केवल सं० १६०० मे फिर स्वामी विट्ठलनाथजी द्वारा लिखित गद्य मिलता है। यह निस्सन्देह व्रजभाषा-का गद्य है।

इसकी क्रियाए तथा अन्य शब्द सभी तो व्रजभाषाके हैं। और वास्तवमे यहीसे व्रजभाषाके गद्यका प्रारम्भ मानना चाहिये।

'शब्दायमान करतु हैं' अथवा 'सखो कूं सम्बोधन' 'वा पटेलके दो बेटा हते और एक स्त्री हेती' इत्यादि प्रयोग बिल्कुल ही व्रजभाषाके हैं।

इसके उपरान्त लगभग ७५ वर्षका यह समय ऐसा आया जिसमें अनेक भक्त लेखकोंके गद्यके उदाहरण मिलते है। भाषा सबकी व्रजभाषा है कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। परन्तु स० १६०० के पूर्वके हिन्दी गद्यमें और उसके पश्चात् लगभग ७५ वर्षतकके हिन्दी गद्यमें बड़ा अन्तर था। स० १६०० के पश्चात्वाले हिन्दी गद्यकी सबसे बड़ी नवीनता तो यह थी कि अब कारक चिह्नों-का प्रयोग अधिक निश्चित् रूपसे होने लगा था। परन्तु यह स्मरण रहे कि व्रजभाषाके गद्यमें कारक चिन्होंका रूप भी व्रजभाषा ही का था। यथा—

"जिनकों ब्रह्म सम्बन्ध करावौगे तिनकौं हौं अंगीकार करूंगों।" न केवल कारक चिन्ह ही बरन व्याकरण-के कई मूल नियम ब्रजभाषाके उसीके विशेष थे यथा 'से' के स्थानमें 'सा' और 'ते' का प्रयाग करना। यथा,—

"श्री गोसांईजीने दामोदरदास सौं पूछौ"

या बहुवचनका एक विचित्र प्रकारसे बनाना, यथा;—

"तुम श्री आचार्यजी महाप्रभून कों कहा करि जानत हौ।" इतनी विभिन्नताएं होते हुए भी यदि हम ध्यान-पूर्वक देखें तो हमें यह जान पड़ता है कि अब भाषाका झुकाव कुछ कुछ खड़ी बोली अर्थात् रेख्ता जो उत्तर-पश्चिमकी कुछ थोड़ी सी परिधिमे बोली जाती थी उसीकी ओर होता जाता था, यथा —

"महाप्रभुने कह्यो जो तू हमारी रसोईमें प्रसाद ले तब गोविन्ददासने कह्यो गुरू ऐसे कैसे लेउ तब श्री आचार्य जीने कह्यो तू सेवा मति करै तब गोविन्ददास खत्री अहं-कारसों सेवा छोड़के मथुरा गये सो केसो रायजीकी सेवा को इजारो पठानके पाससे लियो।"

इस वाक्यमें 'छे' और गये क्रियाएं यह प्रत्यक्ष बत-लाती हैं कि झुकाव किस ओर है। इसी प्रकार मुसल-

मानी शासनके कारण फारसीका भी प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। क्योंकि उपर्युक्त वाक्यमें 'इजासो' अरबी शब्दका बहुत ही शुद्ध प्रयोग हुआ है इसी प्रकार 'मजल' फारसी अर्थात् मंजिल शब्द का प्रयोग भी बहुतायतसे होता था।

ब्रजभाषाकी एक विशेषता यह भी थी कि 'कि' के स्थानपर 'जो' प्रयुक्त होता था, यथा ;—

"तब नरहरदासजी कों आश्चर्य भयौ जो यह लरिका कहांते आयो" इत्यादि।

इन उदाहरणोंको देखते हुए यही जान पड़ता है कि सं० १६००-१८०० तक ब्रजभाषाके गद्यका ही अखण्ड राज्य रहा। परन्तु इन ६०० वर्षोंमें हिन्दी गद्यका विशेष विकास न हो सका। संवत १४०० के पहलेका गद्य तो केवल थोड़ेसे ताम्रपत्रोंमें ही है। परन्तु उसके पश्चात्का गद्य जो पुस्तकोंमें सम्मिलित हो चुका था इतना अप्राप्त है कि इसके विकासका क्रम निश्चित रूपसे निर्धारित नहीं किया जा सकता।

यहां तक कि गंगभट्ट तथा श्री तुलसीदासकी लेखनी-के थोड़े बहुत अंश जो हमें कहीं कहीं उपलब्ध हो जाते

हैं वे भी इतने अपर्याप्त तथा क्रमहीन हैं कि गद्यका क्रम-विकास जोड़नेमें वे भी हमारी सहायता नहीं कर सकते।

अब सं० १८०० से १९२५ तक हिन्दी गद्यका मुख्य युग कहना चाहिये। पहलेकी अपेक्षा इस १२५ वर्षमें हिन्दी गद्यमे बड़ा ही विकट रूपान्तर हो गया। इसके पहले जहां ब्रजभाषाका ही अखण्ड राज्य था वहीं अब आधुनिक हिन्दी अर्थात् खड़ी बोलीके गद्यका समय प्रारम्भ हो गया।

अबके गद्यमें न तो ब्रजभाषाकी वह तोड़ मरोड है और न वह विकृत वाक्य-विन्यास। कारक चिह्न ज्यों के त्यों अब अपने रूपमे ही प्रयुक्त होने लगे और क्रियापद भी धीरे-धीरे अपना स्वाभाविक रूप पाने लगे।

गद्यके इस युगके प्रवर्तक थे मु० सदासुखलाल। ये प्रयत्न तो खड़ी बोली ही लिखनेका करते थे परन्तु कही कहीं 'ब्रजभाषा' अथवा 'अवधी' की झलक आही जाती थी जैसे 'करिके' या 'बन आवे हैं' या "बरियाई लेते हैं।" इत्यादिक प्रयोगों से प्रत्यक्ष है।

इनके वाक्योंमे एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि उनकी रचनापर किसी भी विदेशी भाषाका प्रभाव तनिक

भी नहीं है। और उसमे तत्सम शब्दोंहीकी भरमार है।

इनके पश्चात् सैय्यद 'इंशा अल्ला खा' ने 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्यमें लिखी। इनकी प्रतिज्ञा ठेठ हिन्दी खड़ी बोली लिखनेकी थी। अपनी प्रतिज्ञाके पूर्ण करनेका इन्होंने भरसक प्रयत्न भी किया है और शब्द तो निस्सन्देह विदेशी नहीं आने पाये हैं परन्तु महावरे अनेक स्थलोंपर विदेशी हैं। गद्यमे अनुप्रास लानेका रंग अरबी और फारसी है और इन महाशयकी भाषामें यह भी यथेष्ट है। इनके शब्द प्रायः तद्भव हैं। यद्यपि प्रयत्न हिन्दी ही लिखनेका किया गया है तथापि भाषाका ढांचा बिलकुल ही फारस है यथा 'फलकी मिठाई चक्खे।'

इसी प्रकार परिच्छेदके नाम रखनेका ढग भी बिल्कुल फारसीसे लिया गया है जैसे, 'आना जोगी महेन्द्र गिरिका' इत्यादि।

इस उदाहरणमें 'महेन्द्र गिरि' को 'महेन्दरगिरि' लिखना बिल्कुल ही उर्दूपनका द्योतक है। "जोगी महेन्द्रगिरिका आना" न कहकर 'आना जोगी महेन्दर गिरिका' यह कहना भी फारसीपन ही दिखाता है। परन्तु इनको

भाषामें यह 'फारसी पन' कुछ दोष नहीं क्योंकि थे तो ये मुसलमान ही और फिर उसपर भी उर्दू के एक बड़े कवि फिर इनमे ऐसी बातोंका होना स्वाभाविक ही था।

इसके पश्चात् पं० लल्लूलालजी एवं सदल मिश्रजीने हिन्दी गद्य लिखना प्रारम्भ किया। ये दोनों सज्जन सम-कालीन और सहयोगी भी थे। इन दोनोंके द्वारा हिन्दी गद्यके परिमार्जनका श्रेय फोर्ट विलियम कालेजके गिल्क्रि-स्टको ही है क्योंकि उन्हींके आदेशसे यह समस्त कार्य किया गया था। परन्तु इन दोनों सज्जनोंके ग्रन्थोंके देखने-से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समयतक गद्यका रूप कुछ भी निश्चित नहीं हुआ था। क्योंकि प्रेम-सागरके विख्यात रचयिता प० लल्लूलाल ही बैताल पच्चीसी और और सिंहासन बत्तीसीके भी लेखक हैं, परन्तु इन दो ग्रन्थोंमें प्रेमसागरकी-सी भाषा नहीं है। यद्यपि व्याकरणमें भेद ऐसा कुछ नहीं है तथापि शब्द और वाक्य विन्यास-में तो बड़ा अन्तर है। इसका कारण अनुमानतः पुस्तकोंके विषयकी भिन्नता ही हो।

और यह तो एक निश्चित-सी बात है कि 'तुलसी'

को छोड़कर प्राचीन समयसे लेकर मध्ययुग तक धार्मिक विषयमें हिन्दी साहित्यमें प्राय: ब्रजभाषा हीमें लिखे जाते थे। और यह नियम पद्यहीमें नहीं वरन गद्यकी रचनामें भी मान्य था।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि सं० १८०० के उपरान्त खड़ीबोलीका ही युग प्रारम्भ हो जाता है, इसीके अनुसार लल्लूलालजीकी भाषामें भी हम देखते हैं कि प्रयत्न खड़ीबोलीकी ही ओर किया गया है परन्तु फिर भी अनेक स्थलोंपर ब्रजभाषाकी झलक आ ही गयी है जैसे वे कहते हैं कि "वह मणी गलेमें बाध नित आवे' 'आया करता था' की जगहपर "आवें" का प्रयोग ब्रजभाषाका है। इसी प्रकार 'सुनाय' और 'जाय', 'मानियों' और 'जानियों' इत्यादिक ये विविध प्रयोग भी ब्रजभाषाके ही हैं। न केवल मुहावरोंमें ही वरन कभी-कभी शब्दोंमें भी ब्रजभाषाकी ही झलक आ जाती है जैसे 'निपट' और 'औंडी' ये शब्द ब्रजभाषाके हैं यद्यपि इनकी भाषा सदासुखलालजीकी अपेक्षा अधिक शुद्ध और परिमार्जित होती थी तथापि अभी शिथिलतासे नितान्त शून्य न थी। जैसे एक स्थानपर "तुमसे भी कहते हैं कि इस मायाविनी गुफामें आप भी मत जाइये।"

अब यदि सदल मिश्रजीकी भाषा देखी जाय तो निस्सन्देह 'लाल' जीकी भाषासे वह अधिक प्रौढ़ जान पड़ती है, परन्तु उसमें कुछ नवीनता भी देख पड़ती है। एक तो उसमें अनेक स्थलोंपर बोलचालके प्रचलित मुहावरोंका प्रयोग है। यद्यपि ऐसे मुहावरे इंशा अल्ला खां साहबने भी अपने गद्यमें किये थे परन्तु वे प्रायः उर्दूके थे, परन्तु इनके मुहावरे ठेठ हिन्दीके हैं। इसके अतिरिक्त अपने गद्यमें इन्होंने कहीं-कही वास्तविक घटनाओंका चित्रण अच्छा किया है। जैसे नरकका वर्णन करते हुए इन्होंने अपनी इस कलाका प्रदर्शन अनेक स्थलोंपर किया है। इनके शब्द प्रायः तत्सम होते थे और इनकी शैलीमें हम एक प्रकारकी प्रौढ़ताका अनुभव करते हैं। परन्तु फिर भी इनकी शैलीमें कहीं-कहीं ब्रजभाषाकी और अनेक स्थलोंपर जैसी अन्य विद्वानोंकी राय है, 'पूर्वीपन' की छाप लगी हुई है। यथा "मुगरोंके मारसे भुरकुस होते हैं" 'कीड़े कलबलाते हैं'; "जौन-जौन कर्म कियेसे वह फल होता है।" इत्यादिक उदाहरणोंमें प्रत्यक्ष है।

यद्यपि अब खड़ीबोलीका युग प्रारम्भ हो चुका था और दिन प्रतिदिन प्रौढ़ता प्राप्त करता जाता था तथापि

'सरदार' इत्यादिक कतिपय लेखक अभी भा व्रजभाषाके जीर्णोद्धारमें ही लगे थे। परन्तु ऐसे लेखक थे बहुत ही कम।

सं० १९११ में राजा शिवप्रसादजीने गद्यमें कुछ नयी प्रणालियोंकी प्रयोजना की। इनका कारण कुछ कुछ राजनीतिसे सम्बन्ध रखता था। वे यह चाहते थे कि देशभरमें एक लिपि और एक ही भाषा हो जाय। परन्तु उनकी धारणा यह थी कि जब तक हिन्दीमें उर्दू का यथेष्ट सम्मिश्रण न होगा तबतक उसे मुसलमान लोग ग्रहण ही कैसे करेंगे। इसलिये वे चाहते थे कि हिन्दीमें उर्दू मिला दी जाय और तब उर्दू की स्वतन्त्र स्थिति रह ही न सकेगी। अतः देशभरमें हिन्दी ही केवल रह जायगी। अपनी इसी धारणाके अनुसार उन्होंने उर्दू मिश्रित हिन्दी गद्य लिखना प्रारम्भ किया था। यदि उनके गद्यका भली भांति परिशीलन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अमिश्रित गद्य भी अच्छो लिख सकते थे। परन्तु अपनी उपरियुक्त धारणाके वश उन्हें मिश्रित गद्य वाध्य होकर लिखना पड़ता था। इनकी शैली उर्दू शब्दोंके होते हुए भी एकदम हिन्दी ही होती थी। वरन उसके विषयमें तो यहांतक

कहा जा सकता है कि उर्दू के शब्दोंके स्थानमें यदि हिन्दी शब्द रख दिये जांय तो वह आजकलकी हिन्दीका ही रूप धारण कर लेगी।

इनके लेखोंकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि उनके विषय नवीन थे, देश और जातिकी ओर भी इन्होंने ध्यान आकर्षित किया था। यह अबतक शायद किसी भी लेखकने किसी आशासे भी नही किया था।

ये भारतेन्दुजीके यद्यपि समवयस्क नही थे तथापि सम-कालीन तो अवश्य ही थे। सम्भव है इन्हीके लेखोंने ही पहले पहल भारतेन्दुजीमें भी जागृति उत्पन्न कर दी हो। इनकी शैलीके ही विषयमें एक बात यह भी जानने योग्य है कि उसमें 'व्रजभाषा' अथवा 'पूर्वीपन' की अब जरा भी झलक नही थी।

इनके उपरान्त अब स्वामी दयानन्द और राजा लक्ष्मणसिंहका समय आता है। दोनों सज्जनोंने गद्यकी पूर्ति दो भिन्न-भिन्न रीतियोंसे की। एकने यदि शकुन्तला का अनुवाद किया तो दूसरेने धार्मिक साहित्य एवं कुछ उच्च कोटिके पत्रों द्वारा अपनी प्रतिभाका परिचय दिया। यों तो भाषाका विकास दिन दूना रात चौगुना होता ही

जाता था तौभी उल्लेखनीय ऐसी किसी भी नयी प्रणालीकी आयोजना नहीं हुई। केवल इतना ही कहना पड़ेगा कि राजा साहबकी भाषाकी अपेक्षा स्वामीजीकी भाषा कुछ अधिक परिमार्जित थी।

इस उपरोक्त १२५ वर्षके युगके उपरान्त सं० १९२६ से अब वर्तमान युग प्रारम्भ होता है। यहांसे भाषाका रूप-रङ्ग बिल्कुल ही कुछ और हो जाता है। क्या शब्द और क्या विषय दोनोंहीमें एक विशेष अन्तर-सा जान पडता है। यहांसे कुछ कुछ ऐसा जान पड़ने लगता है कि अब हिन्दी गद्य समयकी रुचिके साथ-साथ जीवनको दौडमें भाग ले रहा है। दिन प्रतिदिन उसमें अधिक सजीवता एवं पटुता आती जाती थी। यह अन्तर सहसा नहीं आ उपस्थित हुआ बरन इसके लिये कारण भी विशेष आ पड़े थे। सबसे पहली बात तो यह थी कि अब देशकी दशाकी ओर लोगोंका कुछ-कुछ ध्यान आकर्षित हो चला था इस ओर ध्यान जाते ही एक भाषाकी आवश्यकता मनुष्योंपर अधिक प्रभाव सहित आ जमी। इसीके साथ दूसरी बात यह हुई कि अब अंग्रेजी शिक्षाका प्रचार भी चारों ओर बढ़ रहा था। विद्याकी इस नवीन वृद्धिका

परिणाम यह हुआ कि उसका यथेष्ट प्रभाव हिन्दी साहित्यपर भी पडने लगा। विद्वान लोग अब हिन्दीकी अंग्रेजीसे तुलना करने लगे। परन्तु अंग्रेजीकी अपेक्षा हिन्दीमें चारों ओर कमी ही कमी देख पड़ने लगी। उन विविध त्रुटियोंकी पूर्ति करना अब हिन्दी प्रेमी अपना परम कर्तव्य समझने लगे।

बस इसका ध्यान होते ही साहित्यके अंगोंकी पूर्ति होने लगी।

हिन्दी गद्यके इस वर्त्तमान युगके प्रवर्तक बा० हरिश्चन्द्र ही थे। उन्होंने शैली तो राजा शिवप्रसाद्की ली परन्तु शब्द अपने हिन्दी हीके रखे अन्तर थोड़ा सा यह और भी कर दिया कि उन्होंने अपनी शैलीमें बोलचालके कुछ रोचक महावरे अपनी भाषामें अधिक सम्मिलित कर दिये। विषय इन्होंने भी नये नये छांटे। परन्तु क्या नाटक और क्या स्फुट लेख सभी जगह इनके लेखोंमें एक बात स्पष्ट है कि ये चोखी वक्रोक्ति लिखनेमें अधिक सिद्धहस्त थे।

गद्यमें ऐसी रचना करनेकी परिपाटी इन्होंने ही चलाई थी।

इनके पश्चात् पं० प्रतापनारायण मिश्र एवं रमाशंकर व्यास प्रभृति लेखकोंने भी इन्हींका अनुकरण किया। परन्तु ये अनुयाई उस सफलताको न पा सके।

विशेष कर पं० प्रतापनारायणजीके गद्यमें कहीं कहीं पुर्वी देहातीपनकी झलक बहुत अधिक मिलती है। यद्यपि कहीं कहीं उससे सरसता अवश्य बढ़ जाती है तौभी यह विधि सराहनीय नहीं है। इसके अतिरिक्त इनकी शैलीमें कुछ कुछ अक्खडपनकी सी बू आती है इसे "बैसवारापन" भी कह सकते हैं। क्योंकि वैसवारेके लेखकोंमें चाहे वे कवि हों अथवा गद्य लेखक परन्तु उपरियुक्त बात उनमें अवश्य ही होती है।

अब इसके उपरांत एक दूसरा ढंग जो गद्यमें चल निकला था वह नाटक इत्यादि लिखनेका नहीं था बरन नाटक इत्यादिक पर लिखनेका था। परन्तु इससे तात्पर्य यह नहीं है कि समालोचना लिखी जाती थी बरन इससे केवल तात्पर्य इतना ही है कि इस बीच कुछ गद्य लेखक इस ओर भी प्रवृत्त हुए थे कि नाटककी कला इत्यादिके विषयमें भी कुछ लिखें।

पं० बालकृष्ण भट्ट और पुरोहित गोपीनाथ इत्यादिक

इसी कोटिके लेखकोंमें हैं। यद्यपि इनकी लेखनी द्वारा भाषाका रूप नहीं बदला है तथापि विषय परिवर्तन अवश्य हुआ है।

अब इनके पश्चात् एक अधिक गम्भीर शैलीका प्रचार हुआ। इस प्रकारके साहित्यिक विषय केवल कठिन हो होते हैं वरन उसीके अनुसार उसकी भाषा भी अधिक गम्भीर होती है। इस गद्यमें किसी अन्य भाषाके उन शब्दोंको छोड़कर जो अत्यन्त प्रचलित न हों, प्रयोग नहीं होता। महावरे भी जैसे "दृष्टिकोण" और आनाकानी इत्यादिक नये प्रकारसे गढ़ लिये गये हैं। इन उपयोगी महावरोंके अतिरिक्त कुछ और प्रचलित शब्द जैसे— 'स्वत्व' और 'वातावरण' इत्यादिक सम्मिलित कर लिये गये हैं और इस प्रकार नवीन गद्यका विस्तार अधिक हो गया है। इस गम्भीर शैलीके मुख्य लेखक हैं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बा० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बा० कृष्णबल्देव वर्मा, इत्यादि। इन सज्जनोंने साहित्यिक एवं विविध अन्य विषयोंपर बहुत कुछ लिखा है और इनकी शैली गम्भीर है।

इस गम्भीर शैलोके अतिरिक्त एक मिश्रित शैलीका

प्रचार भी हम देखते हैं। इसके लेखक हैं मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, और पं० रामनरेशजी त्रिपाठी। ये लोग कुछ अंशोंतक राजा शिवप्रसादकी शैलीका अनुकरण करते हैं। इनकी धारणा भी यही है कि हिन्दीमें किसी भी अन्य भाषाके शब्दोंका समावेश कुछ अनुचित नहीं। परन्तु उक्त राजा साहबमें तथा इनमें भेद केवल इतना ही है कि वे अन्य भाषाके शब्दोंको 'तत्सम' रूपमें प्रयुक्त करते थ परन्तु आज कल इन विद्वानोंकी अनुमति यह है कि अन्य भाषाके प्रचलित शब्दोंको 'तद्भव रूपमें ग्रहण करना चाहिये।' अर्थात् यदि 'ज़रा' शब्दका प्रयोग हमें हिन्दीमें करना हो तो 'जरा' लिखना चाहिये। इत्यादि।

तीसरी प्रचलित शैली है 'ललित साहित्य' अर्थात् (Light Litrature) की। यह रूप उसे उपन्यास एवं गल्प लेखकों द्वारा मिला है। यह गद्य गम्भीर नहीं होता और वास्तवमें होना भी नहीं चाहिये। गम्भीर गद्य और इसमें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि यह प्रायः साधारण बोलचालकी भाषामें लिखा जाता है। इसके शब्द और मुहावरे सभी साधारण बोलचालके होते हैं। और इसमें गरिष्टता नामको भी नहीं होती।

इससे भी भिन्न एक प्रकारका गद्य आजकल बहुधा प्रहसनोंमें पाया जाता है। वह सरल होते हुए भी कठोर होता है। उसका तो उद्देश्य ही यह होता है कि वह जिसके प्रति प्रयुक्त हो उसे ही मर्माहत कर दे परन्तु दर्शकों अथवा पाठकोंके अधरोंपर मुसकान अवश्य आ जाय। इस गद्यमें किसी विशेष भाषाका ध्यान नहीं रखा जाता बरन प्रायः सभी भाषाओंका एक विचित्र सम्मिश्रण होता है। इस शैलीसे ग्रामीण अथवा नागरिक मुहावरा अथवा गैर मुहावराका विचार नहीं रखा जाता। बरन उद्देश्यकी पूर्ति ही यहां अभीष्ट रहती है। अस्तु।

इस नवयुगकी सारी बातोंको देखनेसे यही जान पड़ता है कि शब्दोंमें अथवा व्याकरणमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। परन्तु फिर भी पहले और अबमें हम बड़ा अंतर देखते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति सरलता और स्वाभाविकताकी ओर है तथापि शब्दों और मुहावरोंकी उपयुक्तताके द्वारा भाषाका ओज, विषयोंकी प्रौढ़ता एवं विचारोंकी पुष्टता का ध्यान पूरा रखा जाता है। क्या भाषा और क्या साहित्य गद्यके सभी अंग आजकल भली भांति पुष्ट हो

रहे हैं, और नवीन उत्साह और उमंगोंसे भरे हुए लेखकों-
की संख्या प्रति दिन बढ़ती ही जाती है। और किसी भी
साहित्यके समुज्वल भविष्यकी यही एक मात्र आशा है।

३

हिन्दीका गद्य साहित्य

समयकी गति संसारमें न जाने कैसे कैसे परिवर्तन उपस्थित कर देती है। कहां कविताका वह अखण्ड राज्य और कहां आजकलका यह 'गद्य-युग' कि जिसमें कविताको भी कभी कभी गद्य-रूपधारण करना पड़ता है। (मनुष्यकी आवश्यकता समय एवं साधनके अनुकूल उससे सभी कुछ करा लेती हैं। परन्तु मनुष्य तो स्वभाव-से ही सारल्य प्रिय है। अपने जीवनके प्रत्येक कार्यमें वह सरलतर युक्तियां ढूंढ़ा करता है। जीवनका यह नियम

कुछ नैसर्गिकसा हो गया है। कदाचित इसीका फल हमें गद्य और पद्यके युगके रूपमें साहित्यमें देख पड़ता है।]
लेकिन इतनेपर भी तो परिवर्तनका यह अस्थिर चक्र स्थिर नहीं होनेवाला। गद्यमें भी हम निरन्तर परिवर्तन ही देखते हैं। तेरहवीं शताब्दीका वह प्राचीनतम गद्य, बाबा गोरखनाथके समयमें कुछ और हो गया था और वही गोरखनाथजीके समयका गद्य विट्ठलनाथ और गोकुलनाथजीके समयमें बिल्कुल दूसरा हो गया था। यद्यपि यह व्रजभाषाका गद्य अपने समयकी कविताकी भाषाका द्वेषी न था तथापि राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह इत्यादिकके हाथोंमें पड़कर उसे भी कुछसे कुछ हो जाना पड़ा था। अपने समयमें इन लोगोंने गद्यको वह रूप प्रदान किया कि जो उनके अनुमानसे एक दिन देशव्यापी विस्तृत रूप धारण करनेवाला था, और जिसे वे समझते थे कि शायद अधिक विकृत न होना पड़ेगा, परन्तु उनका यह अनुमान सत्य न हो सका। उनके कुछ ही समयके पश्चात् हमारे आधुनिक युगके प्रवर्तक बा० हरिश्चन्द्रजीने अपने हाथों इसे इतना अधिक परिवर्तित कर दिया था कि जिसे देखकर राजा शिव-

प्रसाद शायद 'संस्कृत' ही कह उठते। अस्तु, यहां भी तो परिवर्तनका अन्त न हो सका। आज दिनतक हम देखते हैं कि शैली एवं विषयमें निरन्तर परिवर्तन होते ही जाते हैं। जो कुछ आज है वह शायद कल न रह सकेगा और जो कल होगा वह शायद परसों ही बदल दिया जायगा।

साहित्यका यह परिवर्तन सहसा एवं निराकारण ही नहीं हुआ करता, और साहित्यमें ही क्यों, ससारका प्रायः सभी वस्तुओंमें परिवर्तनका नियम एक सा ही है। वहांपर प्रत्येक वस्तु किसी न किसी दूसरी वस्तुपर निर्भर अवश्य है। इसीलिये यदि एकमें कुछ परिवतन होता है तो दूसरीमें भी होना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार साहित्य एवं समाजका बड़ा ही घना सम्बन्ध है। कोई कोई विद्वान तो यहां तक बढ़ जाते हैं कि इन दोनोंको एक दूसरेका कारण ही समझने लगते हैं। हम यदि इन्हें एक दूसरेका कारण न भी समझें तौभी कमसे कम इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि एक दूसरेको बनाना अथवा बिगाड़ना बहुत कुछ इन्ही दोनोंपर निर्भर है। साहित्य यदि समाजकी रुचिको बनाता है तो समाजकी रुचि भी साहित्यके बननेमें अपना भाग प्रमुख

रखती है। परन्तु इन दोनोंपर केवल इन्हीं दोनोंका पारस्परिक प्रभाव नही पड़ता। क्योंकि यदि ऐसा होता तो इन दोनोंके परिवर्तनका क्रम निश्चित सा हो जाता। वरन ऐसा न होकर हम देखते हैं कि देश और कालका प्रभाव भी इनके परिवर्तनमें अपना भाग रखता है।

परिवर्तनके इन दार्शनिक सिद्धान्तोंका महत्व आधुनिक गद्य-शैलियोंके विकासमें भली प्रकार प्रस्फुटित होता है।

यों तो जैसा पहले कहा जा चुका है हिन्दी गद्यके कतिपय नमूने १३ वीं शताब्दीसे ही मिलने लगते हैं। परन्तु इन गद्यके नमूनोंके अतिरिक्त उस समयके किसी गद्य साहित्यका पता तो ठीक ठीक गोकुलनाथजीके समयसे लगता है। परन्तु हमें तो आधुनिक गद्य साहित्य एवं शैलियोंका विकास दिखाना अभीष्ट है अतः उस समयकी चर्चाको न उठाना ही ठीक होगा।

वास्तवमें गद्यका आधुनिक युग सन् १८७० ई० से प्रारम्भ होता है। यही समय बाबू हरिश्चन्द्रका था। इस समयके गद्य-साहित्यका निर्माण किन किन बातोंपर निर्भर था यह जाननेके लिये उस सययकी देश एवं समाज-

की दशाका भलीभांति समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि साहित्यके विकासमें ये सभी बातें कारण स्वरूप होती हैं।

सन् १८७७ ई० का यह वह समय था जबकि देशमें बंग-विच्छेद और स्वदेशी आन्दोलनके कारण एक उत्ते-जना-सी व्याप्त हो चली थी। दूसरी ओर इसाइयोंके उपद्रवोंसे ऊबकर स्वामी दयानन्दजी अपना आर्यसमाज स्थापित कर चुके थे।

गद्य-साहित्यके विकासकी दृष्टिसे ये दोनों घटनाएं बड़े ही महत्वकी थीं। क्योंकि इन घटनाओंके पहले देशमें एक प्रकारकी शिथिलता-सी आ गयी थी। जिसके कारण जीवनमें किसी भी नयी आयोजनाका विधान असम्भव-सा हो गया था। परन्तु इन घटनाओंके होते ही देशमें नवीन प्राणसे पैठ गये। जागृतिके साथ ही साथ देशवासियोंमें नवीन उत्साह भर गया और अब लोग नवीन उमंगों एवं स्फुर्तिके साथ जीवनकी दौड़में भाग लेने लगे, अतः साहित्यमें भी नवीन विचार एव नवीन शैलियोंका प्रादुर्भाव होने लगा। पहलेका अपेक्षा वर्त-मान युगके प्रारम्भ होते ही सारा कलेवर बदला हुआ सा

जान पड़ता है। भाषाका व्याकरण ज्योंका त्यों होते हुए भी शैली, शब्द और विषयोंमें बडा अन्तर पड़ गया। दिन प्रतिदिन उनमें एक प्रकारकी सजीवता एवं पटुता आने लगी। इस वृद्धिको देखकर सहसा कुछ ऐसा मालूम होने लगा कि हिन्दी गद्य अब समयकी रुचिके साथ साथ जीवनकी दौडमें भाग ले रहा है। ठीक इसी-के प्रत्युत पहलेके साहित्यमें हम एक प्रकारका शिथिल प्रयास एवं नीरसता-सी पाते हैं। राजनीतिक एवं धार्मिक उन दोनो घटनाओंने देशवासियोंमें देशोन्नतिका भाव जागृत कर दिया था। अब तो पाश्चात्य सभ्यताके परम उपासक अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग भी निज देशमें एक भाषाके पवित्र भावसे प्रेरित होकर इस ओर झुके। परन्तु यहां पहले पहल उन्हें चारों ओर न्यूनता ही देख पडी। परन्तु न्यूनता और त्रुटियोंका प्रथम दर्शन अब लोगोंको निराश न कर सका; वरन अब चारों ओर प्राणपनसे इन त्रुटियोंके मिटानेका प्रबन्ध किया जाने लगा।

इन प्रेमियों एवं भक्तोंकी प्रथम उमंगोंका मनोहर चित्र हमें उन लोगोंके विविध लेखोंमें मिलता है।

क्योंकि उस समयके प्रायः सभी लेखक किसी न किसी पत्र अथवा पत्रिकाका संचालन अवश्य करते थे। और उन्हीमे निबन्धोंके रूपमे ये अपने हृदयके भावोको देशके सम्मुख रखते थे। इस समयके लेखकोमे बा० हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, देवकीनन्दन, बालमुकुन्द गुप्त और रामशंकर व्यास इत्यादि विद्वान अग्रगण्य थे। यों तो अगणित लोग इस समय भी हिन्दीकी सेवामे लगे हुए थे परन्तु प्रत्येकका वर्णन सम्भव नही। इसीलिये प्रत्येक कोईके प्रमुख लेखकोको ही लेकर व्यवस्थापर विचार किया जायगा।

उन उपरियुक्त निबन्धोंके विषय राजनैतिक अथवा धार्मिक ही नही होते थे बरन कभी कभी तो साहित्यिक एवं सरस विषयोपर भी बड़े ही सुन्दर लेख लिखे जाते थे। उनकी भाषा बड़ी ही रसीली होता थी और कहनेका ढंग भी बड़ा ही अनूठा होता था। सस्कृत साहित्यकी चर्चा भी कुछ कम नही रहती थी।

इन निबन्धोंके अतिरिक्त बा० हरिश्चन्द्र आदिक कुछ विद्वान नाटक भी रचने लगे थे। पूर्वकालके नाटकोंकी भांति ये नाटक जो अब लिखे जाने लगे थे नाममात्रके

ही नाटक न थे वरन अब उनमें से कुछ तो उच्च-कोटिके थे।

इस समयके नाटकोंके विषय एवं भावोंकी नवीनताके होते हुए भी शैली संस्कृतकी ही थी वरन कुछ नाटकों के तो आधार ही संस्कृतके नाटक थे। अभी नाटकोंमें कलाका प्रवेश नहीं हुआ था वरन प्रायः वे समाज अथवा देशके सुधारके ही निमित्त लिखे जाते थे। बा० हरिश्चन्द्र के नाटकोंमें तो पग-पगपर यही भाव देख पड़ते हैं।

इसी समय बा० देवकीनन्दन खत्रीने उपन्यासोंकी सृष्टि करना भी प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु इनके उपन्यासोंका उद्देश्य देश अथवा समाज सुधार न था। उनकी कथाएं बडी ही रोचक एवं वैचित्र्यपूर्ण थीं। ऐय्यारीकी कला दिखाना ही उनका प्रधान उद्देश्य था। इस जागृतिके समयमें ऐसे उपन्यासोंकी सृष्टिका क्या कारण हो सकता है यह प्रश्न बड़े ही महत्वका है। वास्तवमें उपन्यासोंकी सृष्टि उर्दू साहित्यमे हिन्दीसे पहले हुई थी और उर्दूके 'नाविलों' का अधिक भड़कीला पार्श्व उनके कथा-वैचित्र्यमें ही था। न केवल 'नाविलों" में ही वरन उर्दू साहित्यके प्रायः सभी अंगोंमें "वैचित्र्य"

ही वहांकी कसौटी है। यद्यपि हिन्दीमे तथा अन्य साहित्योंमें समयकी रुचिके अनुसार 'वैचित्र्य' की कसौटी बदलती गयी और यहांतक बदली कि आज साहित्यके प्रायः प्रत्येक अंगकी परख "वास्तविकता" की कसौटीपर ही की जाने लगी है। परन्तु उर्दू साहित्य-की कसौटीमें हमें आजदिन कोई भेद नहीं देख पड़ता। अस्तु, जहातक अनुमान होता है बा० देवकीनन्दनजीने उर्दूके नाविलोंसे प्रभावित होकर ही अपने चन्द्रकांता इत्यादिक उपन्यासोंकी रचनाकी थी।

जैसा कि सभीने माना है इन उपन्यासोंसे भी हिन्दी-प्रचारको बडी सहायता मिली। क्योंकि इनकी शैली बडी ही रोचक, सरल, एवं चलती हुई थी। पाठकोंको समझनेमें जरा भी कठिनाई नहीं पड़ती थी कुछ दिनोंतक ऐसे उपन्यासोंकी बड़ी धूम रही। लेखकों पाठकोंने इनके प्रति बड़ा ही उत्साह प्रदर्शित किया।

इन निबन्ध, नाटक, एव उपन्यासोंकी यह दशा लगभग १६०० तक रही। इनके उपरान्त साहित्य संसारमें फिर परिवर्तन प्रारम्भ हुआ।

क्योंकि अब देश, काल,एवं समाजकी परिवर्तित दशा

के कारण दिन प्रतिदिन लोगोंका ध्यान हिन्दीकी ओर आकर्षित होता जाता था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे विद्वानोंका ध्यान भी अब धीरे-धीरे इसकी ओर अधिक आकर्षित होने लगा था। इन लोगोंका, जिन्होंने अन्य साहित्योंमें अगाध रत्नोंके ढ़ेर देख लिये थे, उस समयके वर्तमान हिन्दी साहित्यसे सन्तोष न हो सका। अतः अब दिनोदिन हिन्दीके त्रिविध अङ्गोंकी पूर्ति की जाने लगी। क्योंकि यह संसारका नियम है कि मनुष्यका तात्विक असतोष ही उसे कार्यमें नियुक्त करता है और इसी प्रकार गुह्य ज्ञानका अन्वेषण होता है। पहली हलचलोंका ही एक फल यह भी हुआ कि अब लोग विदेश भी जाने लगे तथा विविध सभाओंके द्वारा आत्म-सङ्गठनकी भी सूझने लगी। बस अब धीरे-धीरे अन्य विषयक संस्थाओंके साथ ही साथ हिन्दीकी उन्नतिके लिये भी नागरी प्रचारिणी इत्यादिक संस्थाएं स्थापित हुईं। अनेक नवीन पत्र एवं पत्रिकाएं जैसे 'सरस्वती' इत्यादिक निकाली जाने लगीं। तथा अन्य साहित्योंसे ग्रन्थरत्न चुनचुनकर हिन्दीमें अनुवादित भी होने लगे।

अनुवाद सबसे पहले कुछ बङ्गला साहित्यके सामा-

जिक एवं राजनीतिक उपन्यासोंके ही किये गये थे। इसके लिये कारण भी यथेष्ट था। एक तो यह कि 'बङ्ग-विच्छेद' की वह राजनीतिक घटना जिसने प्राय: समस्त उत्तरी भारतमे हलचल-सी मचा दी थी, बङ्ग देशमें ही हुई थी। इसके अतिरिक्त हमारी प्रान्तिक ,सामाजिक एवं धार्मिक समस्याएं बङ्गदेशमें ज्यों की-त्यों उपस्थित थीं। इसके अतिरिक्त वहां वालोमे अपने देश तथा अपनी भाषाके प्रति प्रेम भी यहांकी अपेक्षा अधिक था। इसी कारण बंगलाका साहित्य अधिक परिपूर्ण था। और दोनो स्थानोंकी दशा एक-सी होनेके कारण यहांके निवासियोंको बगला साहित्यमें ही पहले पहल अपने विचारोंकी छाया देख पडी। अत उसके प्रति इनका अनुराग होना स्वाभाविक ही था। धीरे-धीरे यह अनुराग यहांतक बढ़ा कि उसे बिल्कुल अपना ही बना लेनेमें लोगोंको सन्तोष मिला। अत: बंगलासे हिन्दीमें अनुवादोंकी प्रथा चली। और अब धीरे-धीरे, नाटक एव अन्य उपयोगी ग्रन्थोंका भी अनुवाद होने लगा। फिर अनुवादका यह क्षेत्र और भी विस्तृत होने लगा, लोग अब, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी, एवं फारसी वगैराके भी ग्रन्थोंका अनुवाद करने

लगे। और इस प्रकार अनुवादित ग्रन्थोंकी संख्या अब दिनोंदिन बहुत बढ़ने लगी।

अतः वर्तमान कालका यह द्वितीय पार्श्व जिसकी हदहम सन १६१६ तक मानते हैं इन्हीं उपरियुक्त उद्योगों-से परिपूर्ण है। इस समय तरह-तरहके उपन्यास तथा नाटक, बंगला और मराठीसे अनुवादित किये जाने लगे। शांतिकुटीर, छत्रसाल, मोहिनी, आंखकी किरकिरी इत्यादिक इसी युगके फल थे। परन्तु इस प्रकारके अगणित उपन्यासोंसे भी नाटक पढ़नेवाले तथा खेलनेवालोंका संतोष न हो सका इसलिये उन लोगोंने अब द्विजेन्द्रलाल राय एवं शान्तिभूषण सेन जैसे नाटककारोंके नाटकोंका अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। अतः अनुवादित नाटकोंकी संख्या भी खूब बढ़ी। इस समयके साहित्यकी गति देखनेसे एक बात अवश्य प्रतीत होने लगती है कि धीरे धीरे संस्कृतकी ओरसे लोगोंकी रुचि हटकर अब बङ्गला, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजीकी ओर अधिक होती जाती थी परन्तु उद्देश्य प्राय. यही होता था कि उस साहित्यको निचोड़कर हिन्दीमें सन्निहत कर लेना चाहिये।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है लोग अब विदेशोंमें अधिक भ्रमण करने लगे थे इस लिये पत्रिकाओंमे प्रायः विदेश यात्राओंके सम्बन्धी लेख अधिक प्रकाशित होने थे। उपन्यासों इत्यादिकके अतिरिक्त अब लेखों द्वारा भी लोगोंने सामाजिक कुरीतियोंका दिग्दर्शन कराना प्रारम्भ कर दिया था।

परन्तु इन सब बातोंसे यह न समझ लेना चाहिये कि समाज और राजनीति ही लोगोंका ध्यान आकर्षित किये रहती थी। नही बरन अब तो धीरे धीरे 'कामता प्रसाद गुरु' प्रभृति विद्वान भाषाकी उपयुक्तता पर भी ध्यान देने लगे थे। इन लोगोंने सरस्वती इत्यादिक पत्रिकाओंमें इस विषयके अनेक निबन्ध लिखे तथा पं० महावीर सिंहजी द्विवेदीने सम्पत्ति शास्त्रका नबीन विषय साहित्यके सम्मुख उपस्थित किया। इसी समयमें कन्नोमल तथा जनार्दन भट्टने दार्शनिक विषयोंपर लेख लिखना आरम्भ किया। इस प्रकार पत्र पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी गद्य साहित्यके निबन्ध अंगकी अच्छी पुष्टि हुई। तथा इस समयके लेखोंके देखनेसे हमें लोगोंके विचारोंकी प्रौढ़ता एवं लेखन कलाको परिपक्वताका पता चलता है। इस समयके साहित्यपर यदि एक ओरसे दृष्टि डाली जाय तो

साफ यह जान पड़ता है कि अनुवादित नाटकों एवं उपन्यासोंको छोड़कर अन्य विषयक ग्रन्थ एक तो थे ही कम, परन्तु नाटक और उपन्यास भी अब कुछ समयके लिये बन्द हो गये थे। गद्य साहित्यमें अब एक दूसरा रंग चल निकला कि नाटक इत्यादिक न लिखकर लोग अब नाटक इत्यादिक पर कुछ लिखा करते थे ऐसे लेखक नाटक इत्यादिककी समालोचना नहीं लिखते थे वरन नाट्य शास्त्र अथवा नाटक कलापर ही लिखा करते थे। पं० बालकृष्ण भट्ट और पुरोहित गोपीनाथजी इसी कोटि-के लेखकोंमेसे थे। यद्यपि इनकी लेखनी द्वारा भाषाका रूप नहीं बदला तथापि विषय परिवर्तन अवश्य हुआ।

जहां अन्य बहुतसी बातें हिन्दी गद्य साहित्यका कलेवर बढ़ा रही थीं वहां सन १९१२ में हिन्दी गद्यमें गल्पोंकी सृष्टि भी होने लगी। लोग गल्पें लिखने तो लगे परन्तु इस ओर अभी अधिक ध्यान आकर्षित न हो सका तथा जो कुछ लिखी भी गयीं वे भी किसी उच्च कोटिकी न थीं। परन्तु एक बात विचारणीय अवश्य थी कि साहित्यके अन्य अंगोंको देखते हुए गल्पें अन्य साहित्यसे बहुत ही कम ली जाती थीं।

ऊपर एक स्थलपर नागरी प्रचारिणी सभा इत्यादिक संस्थाओंकी स्थापनाका वर्णन भी किया गया है। इन संस्थाओंके द्वारा भी साहित्यकी वृद्धिमे बडी सहायता मिली। एक सबसे बडा कार्य जो इनके द्वारा सम्पादित हो सका वह था, साहित्यिक, ऐतिहासिक, एवं पुरातत्व विषयक खोजका। इस विभागका कार्य किसी भी साहित्यकी दृढ़ वृद्धिके लिये कितने महत्वका है यह विद्वानों से छिपा नही। रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्रभृति विद्वानोंका इस ओर कार्य बड़ा ही सराहनीय है।

√ वर्तमान कालके इसी पार्श्वमें सन १९१४ को महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अन्य दृष्टिसे यह घटना चाहे बडे महत्वकी भले हो परन्तु हिन्दी गद्य साहित्यपर इनका कोई विशेष प्रभाव न पड सका सिवाय इसके कि देशमें बहुतसे साप्ताहिक एवं मासिक समाचार पत्र निकलने लगे और कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब यदि इस समयकी समस्त शैलियोंपर हम एक ओरसे दृष्टि डाले तो हमें बड़ी सरलतासे यह देख पड़ने लगेगा कि लेखकोंकी शैली विषयक रुचि अभी कुछ

अनिश्चित-सी थी। स्थल स्थलपर लोग विविध शैलियों-
का प्रयोग कर रहे थे परन्तु कौन-सी शैली ग्रहणीय थी
इसका निश्चय नहीं होने पाता था। यद्यपि निश्चित
शैलीके बिना भी साहित्यकी वृद्धिमे कोई रुकावट नहीं
पड़ने पाती थी तथापि कभी कभी इस बातका आभास
अवश्य मिल जाता था कि यह अनिश्चित दशा कुछ अंश
तक लेखकोंका ध्यान अवश्य ही आकर्षित किये रहती थी
अतः १६ वर्षके इस पार्श्वको यदि हम शैलियोंकी प्रयोग-
शाला कहे तोभी शायद कुछ अधिक अनुचित न होगा।

सन १९१९ मे यूरोपीय महायुद्ध समाप्त हो गया और
ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो अब कुछ समयके लिये
शांति अवश्य रहेगी। परन्तु कुछ ही समयमे भारतवर्षके
लिये अशांतिका युग प्रारम्भ हो गया। पंजाबका हत्या-
कांड और उसके पीछे ही असहयोग आन्दोलन ये दो
घटनाएं आधुनिक समयमे भारतीय जीवनके प्रत्येक
पार्श्वके लिये बड़ी ही महत्व की हैं। क्या साहित्य और
क्या समाज या राजनीति सभीपर इनका बड़ा प्रबल
प्रभाव पड़ा। सन १९२२ तकका तीन वर्षका यह समय
भारतीय इतिहासमें एक अपूर्व समय है। जैसे बंग-विच्छेद

इत्यादिककी घटनाओंने उत्तरी भारतमें जागृति उत्पन्नकर दी थी उसी प्रकार बरन उनसे भी कहीं अधिक इन घटनाओंने हलचल मचा दी थी। पहली घटनाओंका प्रभाव तो केवल उत्तरी भारत तक ही सीमित रहा था परन्तु इनका प्रभाव तो समस्त देशव्यापी था। इनके कारण देशके एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेतक आगसी लग गयी थी। मनुष्योंकी मानसिक शक्तिकी उन्नति इन तीन वर्षों मे जितनी हुई थी उतनी तो ३० वर्षोंमे भी होना कठिन था। यद्यपि इस समयमे समाचार पत्रोंको छोड़कर साहित्यके अन्य किसी अंगकी अधिक वृद्धि न हो सकी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके बाद ही आनेवाले समुज्वल युगके लिये तैयारी पूरी हो गयी। वास्तवमें यह तीन वर्षका समय था दीक्षा एवं कर्तव्य पालनका। इसमे शिक्षाके लिये तो अवकाश हो कम था। परन्तु कर्तव्यपालनके साथ ही साथ आन्दोलनके प्रचारके द्वारा देशवासियोंको आत्मशिक्षा बहुत अच्छी मिल गयी। इस आन्दोलनने देशके निवासियोंको कार्यपरायणताके साथ ही यह भी भली भांति सिखा दिया था कि देशकी एवं अपनी उन्नति और उद्धारके लिये किस प्रकार प्रयत्न

करना चाहिये तथा उसके लिये कौन कौन सी बातें आवश्यक हैं। इसी शिक्षाका फल यह हुआ कि सन १६२२ में ज्यों ही कुछ शान्ति स्थापित हुई त्योंही लोगोंकी वह मानसिक शिक्षा साहित्यके रूपमें परिणत होनेके लिये बड़े वेगमें परिप्लावित हुई और जिस प्रकार एक नदी समुद्रमें 'शतधा" हो गिरती है ठीक उसी प्रकार विचारवान मनुष्योंकी वह मानसिक शिक्षा अब इस समय 'साहित्य समुद्र' की ओर शतधा होकर उमड़ने लगी। देखते ही देखते न जाने कितने नवीन एवं उपयोगी विषयों पर नये नये उत्तमोत्तम ग्रन्थ नये ढंगसे बनने लगे।

यदि राय बहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, शङ्कर-राव जोशी, कन्नोमल, जनार्दन भट्ट, इत्यादिक विद्वान ऐतिहासिक खोजकी ओर लगे तो संतराम, दयाशङ्कर दूबे इत्यादिक भी सम्पत्ति-शास्त्र और समाज-शास्त्रकी वृद्धिमें अपना योग अनवरत रूपसे दे रहे हैं।

भाई परमानन्द, बंशीधर बाजपेई, स्वामी सत्यदेव, लज्जाराम मेहता, हर्षदेव ओली, कोचक, पं० गिरिजा-शङ्कर बाजपेई, गणेशशंकर विद्यार्थी, महावीरप्रसाद

श्रीवास्तव इत्यादि विद्वानोंने विज्ञान, कृषि, राजनीति, इत्यादि अनेक आवश्यक अंगोंको परिपुष्ट करनेका प्रयत्न किया है तथा रात दिन कर रहे हैं परन्तु फिर भी सारी सामग्रीको देखकर यही कहना पड़ता है कि अभी तो समयका प्रारंम्भिक काल है। यद्यपि ये सभी प्रयत्न सराहनीय हैं तथापि इनसे सन्तोष नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी इत्यादिक अन्य साहित्य जिससे हिन्दीको शीघ्र ही टक्कर लेनी है उनमें यह सब सामग्री इतनी अधिक भरी पड़ी है कि उसके सामने हिन्दीका यह सब सामान कुछ जचता ही नहीं। लेकिन फिर भी निराश होनेका कोई कारण नहीं। क्योंकि चारों ओर दृष्टि फेरते हुए यह तो प्रेत्यक्ष हो जाता है कि अब साहित्यके प्रायः सभी अंगोंका सूत्र पात अवश्य हो गया है तथा विद्वानोंको अपने अपने विषयकी पूर्ति करनेकी धुन-सी लग गयी है फिर भला साहित्यके बढ़नेमें एवं परिपुष्ट होनेमें शंका ही क्या हो सकती है? और अभी दिन ही कै हुए हैं? यदि इतने थोड़े समयमें इतनी वृद्धि हो सकती थी तो कुछ और समयमें सन्तोषजनक वृद्धि हो जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

अब यदि हम इस पार्श्वके शुद्ध साहित्यिक अंगकी ओर झुकते हैं तो हमें अन्य अंगोंकी अपेक्षा यह अंग बहुत अधिक परिपुष्ट मिलता है। इसके प्रायः सभी पार्श्वोंका सूत्रपात पहले ही हो चुका था। समालोचना एवं गद्य काव्य इत्यादिक कुछ नवीन प्रणालियोंको छोड़कर अन्य सभी जैसे नाटक, उपन्यास,गल्प, जीवन चरित्र, निबन्ध, भाषा एवं साहित्यका इतिहास इत्यादिक पहलेहीसे लिखे जाते थे। परन्तु साहित्यकी इन शाखाओंमें भी पहलेकी अपेक्षा अब बड़ा अन्तर पड गया था।

पहलेके उपन्यास प्रायः अनुवाद ही हुआ करते थे, परन्तु अब हिन्दीमें मौलिक उपन्यासों की कमी लोगो को बहुत खटकने लगी। अतः प्रेमचन्द और हृदयेश, वृन्दावन-लाल प्रभृति उपन्यासकारों ने सेवासदन, प्रेमाश्रम, गोदान मंगल प्रभात, गढ़कुण्डार इत्यादि रचकर मौलिक उप-न्यास लिखनेकी प्रथा स्थापित की।

इनमेंसे कुछ तो प्रथम प्रयास होते हुए भी बड़ी ही उच्च कोटिके हैं। अब यद्यपि अनुवाद आज दिन भी किये जाते है और शायद सदा ही किये जायगे, क्योंकि बिना अनुवादके केवल मौलिकताके भरोसे किसी भी साहित्य-

की वृद्धि यथेष्ट नहीं हो सकती तथापि आजकल मौलिकताकी चाह अधिक है। और लेखक भी इस ओर प्रयत्न अच्छा कर रहे है।

न केवल उपन्यासोंमें ही बरन नाटक और गल्पोंमें भी हम रुचिका प्रवाह मौलिकताकी ओर ही पाते हैं। बरन नाटकोंमें तो केवल कथानक ही नहीं बरन सारी शैलीमें ही नवीनताकी अपेक्षा की जाती है। पुराने ढगके नाटक चाहे वे अनुवादित न होकर मौलिक ही क्यों न हो तोभी अच्छे नहीं समझे जाते। कदाचित् मौलिकताके ही कारण 'अञ्जना' जैसी रचना भी 'शाहजहां' अथवा 'उस पार' से अधिक समादृत है। उपन्यासोंकी अपेक्षा साहित्यकी इस शाखामें परिवर्तनकी आशा बहुत की जा रही है। क्योंकि आजकल विद्वानोके सम्मुख भारतीय नाट्य-शास्त्रका क्या उद्देश्य होना चाहिये यही प्रश्न उपस्थित है। आजकलके नाट्यकार नवीन आदर्शोंका प्रयोग भी नाटक लिख-लिखकर कर रहे हैं। और 'बरमाला' और 'दुर्गावती' इसी प्रयोगशालाके फल हैं। परन्तु इस ओर अभी कुछ निश्चय नही हो सका है कि वर्तमान भारतीय नाटकका आदर्श क्या होना चाहिये। अभी तककी

कसौटी जो कुछ भी कही जा सकती है वह केवल यही है कि नाटक अभिनय योग्य होना चाहिये। क्योंकि नाटक दृश्यकाव्य है अतः उसको 'अभिनय-योग्यता' अनिवार्य है।

नाटक अथवा उपन्यासोंकी अपेक्षा हम देखते हैं कि हिन्दीमे गल्पोंकी शाखा सबसे अधिक पुष्ट है। सबसे पहली बात तो यह है कि हिन्दीकी गल्पें अधिकतर मौलिक हैं। तथा उनमें प्रौढ़ता और पटुता भी अधिक है। आजकलके गल्प लेखकोंमें प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन, और हृदयेश यही प्रमुख हैं। इन्हीं लोगोने अन्यत्र उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। इन नाटक और उपन्यासोंकी तुलना इनकी गल्पोंसे करनेपर हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता हो जाता है कि उनकी अपेक्षा अपनी गल्पोंके लिखनेमें ये लोग कहीं अधिक सिद्धहस्त हैं। चरित्र चित्रण, भाषा और कथानक सभी कुछ इनकी गल्पोंमें अधिक जंचते हैं। बात तो यह है कि उपन्यास अथवा नाटककी अपेक्षा गल्प लिखनेमें रचना चातुर्यकी कहीं कम आवश्यकता पड़ती है। इन सारी बातोंको देखकर हमें कुछ ऐसा जान पड़ता है कि कदाचित हमारे लेखकों-

में रचना चातुर्य अभी इतना प्रौढ़ नहीं हो सका है कि वे नाटक अथवा उपन्यासमें भी उतनी ही कुशलता दिखा सके जितनी गल्पोंमें दिखाते हैं। और हमारे साहित्यमें इस कलाका उद्घाटन हुए अभी समय ही कितना हुआ है ? यदि इसी प्रकार प्रयास होता रहा तो शीघ्र ही सारी न्यूनता दूर हो जायगी।

इनके अतिरिक्त हिन्दीमें अब कुछ नवीन शाखाएं भी पल्लवित होने लगी हैं। जैसे गद्य काव्य, तुलनात्मक एव आलोचनात्मक अध्ययन इत्यादि। पहलेकी अपेक्षा अब समयमें बड़ा परिवर्तन हो गया है ; उसीके अनुसार हिन्दी साहित्यके स्टैन्डर्डमें भी बड़ा अन्तर पड़ गया है। पहले हिन्दी पढ़नेवाले थे ही बहुत कम और जो कुछ पढ़ते भी थे वे केवल 'स्वान्तः सुखाय'। परन्तु अब तो धीरे-धीरे लोग हिन्दी साहित्यका अध्ययन-सा करने लगे और यह क्रम इतना अधिक बढ़ा कि विश्वविद्यालयोंमें यह एक पाठ्य विषय हो गया। अध्ययनका यह नया ढंग हिन्दीकी सुदृढ़ पौष्टिकताकी दृष्टिसे बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ। क्योंकि अब तक लोग आलोचनात्मक अथवा तुलनात्मक दृष्टिसे नहीं पढ़ा करते थे जिससे सा-

४

हिन्दी-काव्यका वर्तमान युग

आजसे लगभग बारह सौ वर्ष पहले हिन्दी-कविताका जन्म हुआ था। चन्द जल्ह तथा जगनिकका समय हिन्दी-कविताका उत्पत्ति काल था। तबसे आज तक हिन्दी-कविताने न जाने कैसे-कैसे समय देखे। विद्यापति अमीर खुसरो और नानककी गोदमें खेलनेवाली हिन्दी-कविता किशोरवयस्क बालिकाकी भांति लगभग पंद्रहवीं शताब्दीमें सूर, तुलसी और मीराबाई जैसे हरिभक्त गुरु-ओंके पास दीक्षा ग्रहण करनेके लिये आयी। अब ज्यों-

ज्यों इसका यौवन और रूप बढ़ता गया त्यों-त्यों केशव, रसखान, सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव और वृन्द इत्यादिक रसिक कवि इसपर रीझते गये। इन प्रेमियोंने अपनी आराध्य देवोंकी अर्चनामें न जाने कितने और कैसे-कैसे अच्छे पुष्प चढ़ाये। इसीकी आराधना करते-करते उनका जन्म व्यतीत हो गया।

यौवनकी चञ्चलताके उतरांत सौम्यताका आना स्वाभाविक ही था। हिन्दी-कविता अपनी इस सौम्यताका परिचय दास, गिरिधर, दीनदयाल तथा द्विजदेव इत्यादिकी कवितामें भली भांति देती है। परन्तु यह सौम्यता वृद्धावस्थाका संकेत नहीं है। यह तो केवल गम्भीरताका आगमन ही सूचित करती है।

अब बीसवी शताब्दीके साथ ही हिन्दी-कविताका वर्तमान युग प्रारम्भ हो जाता है। हिन्दी-कविता इस युगमें कुछसे कुछ हो गयी। न पहला वेष ही रह गया और न पहलेसे भाव। बाल्यकालका उसका वह तुतलाना अब नहीं सुन पड़ता और न यौवनकी उसकी वह चोखी अठिलान हो अब देख पड़ती है। उसके तनपर राधाकृष्ण या रामनाम छपी हुई ब्रजकी साड़ी नहीं देख

पड़ती। बरन समयके अनुकूल अब तो उसने भी बड़े चावसे बनारसी साड़ी और लखनऊकी 'चिकेन' की जाकेट पहन ली है। नयी पोशाकके साथ-साथ भावोंमें नवीनता आ गयी है। प्रिय मित्र कृष्ण और राधिकाका प्रेम कुछ कम पड गया है। अब तो उनका स्मरण भी कभी-कभी ही हो आता है। आजकल देश और समाज ही प्रायः ध्यान आकर्षित किये रहते हैं। मनो-विनोद भी अब प्राकृतिक दृश्यों द्वारा ही अधिक होता है। परन्तु इससे कोई यह न समझे कि हिन्दी-कविताने अब प्रेम और भक्तिको सर्वथा तिलांजलि देदी है। आज भी है दोनोंही, परन्तु उनका रूप बदला हुआ है। उसके प्रेममें अब यौवनकी उच्छृङ्खलता और उन्माद नहीं है, बरन उसमें भी कुछ सौम्यता आ गयी है। उसका हास्य अब केवल मानलीलाका व्यंग्य नहीं है बरन उसमें भी एक अनोखा प्रागल्भ्य भरा हुआ है। अब इसकी आनबान सर्वथा पूर्वीय ही नहीं है बरन पाश्चात्यके इतने दिनोंके सम्पर्कसे उसकी भी बहुत कुछ झलक आ गयी है।

यों तो समय-समयपर इसमें युग परिवर्तन होते ही रहे हैं परन्तु वर्तमान कालमें जितने परिवर्तन इसमें हुए

है उतने कदाचित कभी नहीं हुए। हिन्दी-कविताके आधुनिक युग-प्रवर्तक बा० हरिश्चन्द्र बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें हुए थे। उनके समयसे कुछ ही पहले हिन्दीकी दशा बडी ही शोचनीय हो गयी थी। उर्दू का बाजार चारों ओर गर्म हो रहा था। लोग इश्कके नशेमें चूर उर्दू 'गजलों' और 'नाविलों' को ही संसारकी न्यामत समझ बैठे थे। हिन्दीको जो केवल गँवारोंकी भाषा समझी जाती थी लोग चारों ओर तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते थे। हिन्दुओंकी भाषा समझ कर मुसल्मान इससे घृणा करते थे और संस्कृतज्ञ पंडित इसे अशुद्ध तथा असभ्यताका चिह्न समझ कर इसका निरादर करते थे। फिर अंग्रेजी पढ़े लिखोंका तो कहना ही क्या। उनके लिये तो इसका पढ़ना सर्वथा समयका अपव्यय करना था। क्योंकि उनके मस्तिष्क सदा वर्डस्वर्थ (Wordsworth) के प्रकृति-वर्णनमें अथवा शेली (Shelly) या कीट्स (Keats) के प्रेम-प्रवाहमें ही मस्त रहते थे। यह तो साहित्यकी दशा थी। अब देश तथा समाजकी दशाको जान लेना भी कम आवश्यक नहीं क्योंकि समाज और साहित्यका एक दूसरेसे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है और कवि तो समाजका गायक है।

बीसवीं शताब्दीका आरम्भ वह समय था जब देश विदेशी शासनकर्ताओंके उत्पातोंसे ऊब उठा था। समाज की दशा अत्यन्त हीन थी। चारों ओर सुधारकी पुकार मच रही थी—तथा देशवासियोंका ध्यान जाग्रतिकी ओर हो चला था। इन सारी व्यवस्थाओंसे प्रभावित होकर हरिश्चन्द्रजीने जिस समय कविता लिखना प्रारम्भ किया उस समय उन्हें अनेक नवीन प्रथाओंकी आयोजना करनी पडी। देश और कालके अनुकूल नयी प्रथाओंके इस सन्निवेशने हिन्दी-कविताका प्राचीन रूप ही बदल डाला। उसका यह कायापलट उसके नवयुगका सूचक था।

हिन्दीकी प्राचीन तथा आधुनिक कविताकी विभिन्नता मुख्यतः चार बातोंपर निर्भर है—(१) भाषा (२) विषय (३) शैली (४) अलंकार विषयक रुचि। पहले कविताकी भाषा थी ब्रजभाषा। यद्यपि अमीर खुसरो, मुहम्मद, कबीर तथा सूदन आदि प्राचीन कवियोंने भी कहीं-कहीं खड़ी बोलीका प्रयोग किया है जिससे ज्ञात होता है कि उनके समयमें भी खड़ी बोली थी, परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि उस समय कविताकी भाषा ब्रज भाषा ही थी इसके लिये कारण भी यथेष्ट था। क्योंकि

उसका-सा पद-लालित्य तथा उसकी-सी भाव व्यंजनामें सुगमता कदाचित किसी भी दूसरी प्रचलित भाषामें नहीं थी। परन्तु इस युगमें व्रज-भाषाका स्थान क्रमशः खड़ी-बोली लेती जाती है। यद्यपि व्रजभाषा सर्वथा विलुप्त नहीं हो गयी है तो भी यह प्रत्यक्ष है कि आधुनिक हिन्दी भाषाके कवि अधिकतर खडी बोली हीमें कविता करते हैं और प्रतिदिन उसकी उन्नति भी होती जाती है।

इस युगमें भी 'रत्नाकर' जैसे हिन्दीके उच्च कवि व्रजभाषाके ही अनन्य उपासक थे। उसके पुनरुत्थानके लिये बहुधा प्रयत्न भी किये गये परन्तु अधिक सफलता न मिल सकी। इसको प्रमाण यही है कि आजकल व्रज-भाषाकी कविता प्रायः समस्या-पूर्तियोंके ही अवसर पर की जाती है, क्योंकि समस्याएँ अधिकतर व्रजभाषाकी ही हुआ करती हैं। परन्तु पूर्तियोंके देखनेसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्रजभाषाका अभ्यास आजकलके कवियोंको बहुत ही कम है। इसके कारण अनेक हैं। सबसे पहला कारण तो यह है कि आजकल हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेका चारों ओर घोर प्रयत्न किया जा रहा है। केवल वही भाषा राष्ट्र-भाषा बन सकती है जो देशमें सबसे अधिक बोली

जाती हो और सरल हो। इस बीच जब हिन्दीकी क्रान्ति मन्द पड़ गयी थी उस समय उर्दू का प्रचार चारों ओर बड़े वेगसे हो रहा था। परन्तु जब राष्ट्रभाषाका प्रश्न उठा तब खड़ी बोलीमें ही सबसे अधिक सुविधा जान पड़ी क्योंकि उर्दू से समानता होनेके कारण उर्दू वालोंको भी इसके समझनेमें कठिनाई नही जान पडती। ब्रजभाषा जो गद्यके अंगसे न्यून है उसका प्रचार देशके थोड़ेसे ही हिस्से में है। इसके अतिरिक्त उसमे शब्दोंका उच्चारण कुछ ऐसे विचित्र प्रकारसे किया जाता है कि सुननेमें चाहे वह प्रिय भले ही लगे परन्तु उसका प्रचलित होना अत्यन्त कठिन है। आजकल खड़ी बोली ही अधिकतर बोल चाल की तथा साहित्यकी भाषा होती जाती है। इसलिये आज-कलके कवियोंको इसीमे कविता करना अधिक सुविधा-जनक है। यद्यपि यह मानना होगा कि खड़ी बोलीकी कवितामें ब्रजभाषाका-सा शब्द-माधुर्य नही आने पाता परन्तु उसका गाम्भीर्य भी अनोखा ही होता है।

दूसरी विभिन्नता है कविताके विषयोंकी। पहले समयमें कविताके विषय थे ईश्वर-भक्ति, ज्ञान, वैराग्य; विरह, प्रेम, श्रृङ्गार, नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन

इत्यादि। इनके निमित्त थे राधिका और कृष्ण। इसी रुचिका प्रभाव था कि उस समय रीति-ग्रन्थ अधिक लिखे जाते थे। पहले देश-भक्ति अथवा समाज-सुधारकी दृष्टि से कविता प्रायः नहीं लिखी जाती थी। परन्तु आजकलके विषय तो अधिकतर यही हैं। नायिका-भेद और नख-शिखका युग नहीं है। विरह और प्रेम भी और ही ढङ्गसे लिखा जाता है। अब तो फुटकर विषयोंपर जैसे पुष्प, एकान्त-रुदन, अथवा विदा ऐसे-ऐसे विषयोंपर ही कविता लिखनेकी प्रथा अधिक चल निकली है। रामायण या महाभारत-सा महा-काव्य इस युगमें कोई भी नहीं लिखा गया लेकिन तो भी पद्यात्मक छोटी-छोटी कहानियां देखनेको अवश्य मिल जाती है कबीर और अन्य भक्तोंका छायावाद जो मध्य युगमें लुप्तसा हो गया था अब फिर जीवित किया जा रहा है परन्तु उसका रूप अब कुछ और है। पहलेकी हिन्दी-कवितामें Elegy अर्थात् 'शोक गान' का सर्वथा अभावसा था। उस समय यद्यपि करुण रसके ही द्वारा इसकी पूर्ति कर ली जाती थी परन्तु इस प्रकार-के काव्योंके लिखनेकी प्रथा तो थी ही नहीं। आधुनिक हिन्दी-कवियोंने इस ओर भी प्रयत्न किया है। 'गिरीश' जीकी 'स्मृति' इसका अच्छा उदाहरण है।

तीसरी नवीनता वृत्तोंकी है। हिन्दी-कवितामें जब ब्रज-भाषाका ही अखण्ड राज्य था उस समय 'घनाक्षरी' दोहा, चौपाई, सवैय्या, और पद यही कतिपय छन्द लिखे जाते थे। मात्रिक छन्दोंके अतिरिक्त वर्ण-वृत्तोंका प्रयोग बहुत ही कम किया जाता था। इसका विशेष कारण यही था कि इसमें सुगमता अधिक पडती थी। इस युगके प्रारम्भिक कुछ कवियोंने प्राचीन शैलीका ही अनुसरण किया था परन्तु ज्यों-ज्यों खड़ी बोलीका प्रचार बढ़ता गया त्यों-त्यों इस प्राचीन शैलीका विच्छेद होने लगा। हिन्दी-कवितामें आरंभ हीसे तुकबन्दीका प्रचार है। संस्कृतमें जैसे भिन्नतुकान्तका बाहुल्य है वैसे ही हिन्दीमें तुकबन्दीका। मात्रिक छन्दोंमें तुकबन्दीके बिना भाषाका माधुर्य कम हो जाता है इसीलिये कदाचित ब्रजभाषामें अतुकान्त कविता नहीं लिखी गयी। खड़ी बोलीकी उन्नति के साथ ही संस्कृत वृत्तोंका प्रयोग अधिक बढ़ता गया। धीरे-धीरे संस्कृतकी भांति हिन्दीमें भी भिन्नतुकान्त कविता लिखी जाने लगी। संस्कृतके वृत्तोंके अतिरिक्त अनेक नवीन मात्रिक छन्दोंकी भी रचना की गयी। जिनमें से बहुतोंका अभी नामकरण संस्कार भी नहीं हुआ है।

कुछ तो उनमेंसे अंग्रेजीके 'सोनेट' (Sonnets) और 'ओड्स' (Odes) तथा उर्दू की गजलोंके ढंगके हैं। इसमें भी बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्यकी छाया है। परन्तु इसमें दोष ही क्या है?

संसारके साहित्यमें स्थान पानेके लिये निस्सन्देह मौलिकताकी ही शरण लेनी पड़ती है परन्तु प्रारम्भमें अन्य साहित्योंका सहारा लेना भी कुछ अनुचित नहीं। अंगरेजी साहित्य आज इतना वृहद् न होता यदि 'वायट' (Wyatt) और 'सरे' (Surray) 'वर्ड्स्वर्थ' (Wordsworth) और 'कोलरिज' (Coleridge) संसारकी सभी सामयिक प्रथाओं तथा साहित्यिक कौशलोंके अपनानेके लिये हृदय न खोल देते। इसी प्रकार राममोहनराय मधुसूदन, और रवीन्द्रनाथ टैगोर भी बंगला-साहित्यको आज इतना ऊँचा न उठा सकते यदि उनकी उक्ति विश्व-भारती न होती।

चौथी विभिन्नता है अलंकार विषयक रुचि में। प्रत्येक साहित्यमें अलकारोंका स्थान एकसा है कि यदि वे स्वाभाविक होते हैं तो भले मालूम होते हैं और यदि खींच खाँचकर लाये जाते हैं तो अरुचि उत्पन्न कर देते

हैं। अस्वाभाविक अलंकारों के लिये हिन्दी-कविताकामध्य युग विख्यात है। पद्माकर इत्यादिकके समयमें कविताकी कसौटी अलंकारों पर निर्भर थी। इसलिये उस समय की अधिकांश कविता अलंकारों हीके लिये लिखी जाती थी। संस्कृत-साहित्यकी यही दशा 'माघ' के समयमें थी और Romantic Revival के पहले अंग्रेजी-साहित्य की। परन्तु यह कुरुचि आधुनिक युगमें न चल सकी। इस युगने यह निश्चयपूर्वक समझ लिया है कि कवित्व कुछ और वस्तु है और पाडित्य कुछ और। अस्वाभाविक अलंकारोंकी भरमारसे कोई पांडित्य चाहे भले ही दिखाले परन्तु कवित्व-शक्ति तो कुछ और ही वस्तु है। एक सच्ची कविताके लिये अलकारोकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि एक रूपवती स्त्रीको आभूषणोंकी। यदि हों तो अच्छा ही है अन्यथा बिना उनके सौंदर्यमें कुछ भी न्यूनता नहीं आती। कवितामें प्रसाद गुण ही उसका सबसे बड़ा अलंकार है। अलंकारोंके विषयमें आजकल की धारणा तो यह है कि—

'कविता वनिता चैव, सरसा स्वयमागता।
बलादाकृष्यमाणा चेत् सरसा विरसायते॥

इन विविध विभिन्नताओंको देखते हुए यही जान पड़ता है कि पहलेकी और अबकी कवितामें बड़ा अन्तर पड़ गया है। परन्तु इस आधुनिक युगमें भी तो कविता-की धारा एक ही ओरको बहती हुई नहीं देख पड़ती। उसका वेग सर्वत्र एक-सा नहीं है। पाट भी कहीं अधिक चौड़ा है तो कहीं बिल्कुल संकरा। ये विभिन्नताएँ क्रान्तिकारी भले ही हों परन्तु युग परिवर्तनकारी नहीं कही जा सकतीं। बरन ये तो भिन्न-भिन्न रीतियाँ (Style or Types) हैं; जिनका होना स्वाभाविक है। क्योंकि नये युगको प्रारम्भ हुए अभी समय ही कितना हुआ है। अभी तो आधुनिक कविताकी धारा अपना मार्ग भी निश्चित नहीं कर सकी है।

इस युगमें बाबू हरिश्चन्द्रके समयसे अबतक न जाने कितने कवि हो गये हैं। सभीका परिचय इस छोटे लेख-में असंभव है। अतएव उचित यही जान पड़ता है कि पृथक्-पृथक् रीतियों (Types) को ही लेकर आधुनिक कविताका रसास्वादन किया जाय।

आधुनिक युगके आदि कवि बा० हरिश्चन्द्रजीकी कवितासे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भाषा, विषय और

शैलीमें उसी समयसे परिवतन हो चुका था। सबसे बड़ा परिवर्तन कविताके विषयमें हुआ। 'भारतवर्ष' अथवा 'समाज' को कविताका विषय बनाना पहले पहल इन्हींका काम था।

··· ··· ··· ··· आवहु भारत भाई।
हा हा भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल।
धन विदेस चलिजात तऊ जिय होत न चंचल॥

अब तक देशकी दशा तथा समाजके अधःपतनका चित्र कवि लोग प्रायः नहीं खींचा करते थे वरन् 'स्वदेशी' का महत्वपूर्ण प्रश्न तो इनसे पहले शायद राजनीतिक जगत्में भी किसीने नहीं उठाया था। 'चूरनवाले का लटका' इत्यादिक कुछ कविताएँ इन्होंने खड़ी बोलीमें भी लिखी हैं तो भी कहना यही पड़ेगा कि ये ब्रजभाषाके ही कवि थे। क्योंकि वैसे तो कुछ कविताएँ इन्होंने उर्दूमें भी लिखी थीं। शैलीमें विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

इनकी कविताके शृंगार, शांत, करुणा तथा हास्य यही प्रधान रस थे। शृंगार तो इनका सर्वथा मध्ययुग-

का-सा ही होता था परन्तु वर्णन-शैली अनोखी थी जैसे प्रेम-प्रवाहमें वे लिख जाते हैं कि—

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

श्रृंगारमें भी वियोग-वर्णन इनकी कवितामें अधिक है। कहीं-कहीं तो वह बड़ा ही मनोहारी है। जैसे—

प्यारी बिन कटत न कारी रैन॥
जिय तड़फड़ात सब जरत गात,टप-टप टपकत दुख भरे नैन॥
सजि विरह सैन यह जगतजैन,मारत मरोरि मोहि पापी मैन॥

इनकी प्रीति 'नयनों' पर कुछ अधिक थी क्योंकि इनके पदोंमें अनेक स्थलोंपर नयनोंका ही वर्णन है और उनमें भी अनेकका तो भाव भी बहुत कुछ एक ही सा है। शांत रसका वर्णन भी इन्होंने खूब किया है परन्तु उसमें कोई विशेषता नहीं देख पड़ती। करुण-रसका वर्णन इनकी प्रखर कवित्व-शक्तिका पूर्ण द्योतक है। अपने विविध पदोंमें इन्होंने करुणाकी मूर्तिसी खड़ी कर दी है। जितनी सफलता इन्हें इस रसके वर्णनमें मिली है उतनी कदाचित किसी भी अन्य रसमें नहीं मिली। शवका दाह वर्णन करते समय लिखते हैं—

प्राणहु ते बढ़ि जा कंह चाहत,
तो कंह आजु सबै मिलि दाहत।
फूल बोझ हू जिन न सम्हारे,
तिन पै बोझ काठ बहु डारें।
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी,
करत कपाल-क्रिया तिन केरी॥

मृत्युके समय अपने बिछुड़े हुए मित्रसे कहते हैं कि--

"आजु लौं जो न मिले तो कहा,
हमतौ तुम्हरे सब भांति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं
सबै फल आपने भाग को पावैं।
जो हरिचंद भई सो भई,
अब प्राण चलो चहैं तासों सुनावं।
प्यारे जू! है जग की यह रीति,
विदाके समय सब कण्ठ लगावैं॥"

बीभत्स-रसके वर्णनमें इनका मर्घट-वर्णन प्रसिद्ध है। हास्यरस इन्होंने जहां कहींभी लिखा है समाज और राज-कर्मचारियोंके सम्बन्धमें प्रायः व्यंग्यकी ही रीतिसे। 'चूरनवाले का लटका' इसका अच्छा उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त भारत-दुर्दशा नाटकमें भी ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। इनके वर्णनकी शैली अत्यन्त मधुर-भावपूर्ण तथा सरस होती थी। श्री गंगाजीकी धाराका वर्णन करते समय कहते हैं—

नव उज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

इनकी उत्प्रेक्षाएँ अत्यन्त खरी और उपयुक्त हुआ करती थी। वैसे तो इसके उदाहरण इनकी कवितामें अगणित स्थलोंपर मिलेंगे परन्तु जमुना-जलमें चन्द्र-प्रति-बिम्ब देखकर इन्होंने जो कुछ लिखा है वह तो आदर्श है।

"कबहु होत सब चन्द्र कबहुं प्रगटत दुरि भागत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल मैं बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत किलोलै॥
कै बाल गुडी नभ मैं उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत छोऊ ब्रजरमणी जल आवती॥
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।

कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल ॥
कै कालिन्दी नीर तरंग जितौ उपजावत।
तितनौ ही धरिरूप मिलन हित तो सों धावत ॥"

इनके समकालीन अन्य कवि भी अधिकांश प्राचीन ही ढ़ंगकी कविता करते थे। अभी समय ऐसा नहीं आया था कि सबमें एक-सा परिवर्तन हो जाता परंतु यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि क्रमशः सबका झुकाव परिवर्तनकी ही ओर था। पंडित बदरीनारायणजी 'प्रेमघन' की अधिकांश कविताओंका विषय 'भारत' ही है। फुटकर कविताओंमें इनका आनन्द-अरुणोदय ही सर्वोत्तम है। इन्होंने खड़ी बोलीमें भी कविता लिखनेका प्रयत्न किया था परंतु केवल उसका रूप देखनेके लिये। इन्हींके समयमें पं० विनायकरावजीने भक्ति तथा ज्ञान विषयक कविता लिखी है। आजकलकी प्रचलित शुद्ध खड़ीबोली-के सबसे प्रथम कवि कदाचित यही थे। ब्रजभाषाके कतिपय दोहों और कवित्तोंके अतिरिक्त संस्कृतके कुछ पद्योंका अनुवाद इन्होंने शुद्ध खड़ीबोलीमें किया है, जैसे--

"प्रसन्नता जो न लही सुराज से,
गही न ग्लानी बनवास दुःख से।

मुखच्छवी श्री रघुनाथ की अहो
हमें सदा सुन्दर मंगलीय हो ॥

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी इन्हींके समकालीन कवियोंमें थे। व्यंगकी रीतिसे इन्होंने हास्यरस अधिक लिखा है। कहीं-कहीं ग्रामीण भाषाका पुट इनकी कविताके हास्यरसको द्विगुण कर देता है। इनकी 'बुढ़ापा' शीर्षक कविता बड़ी प्रसिद्ध है। पं० अम्बिकादत्त व्यास, लाला सीताराम इत्यादिक सभी समकालीन हैं, परन्तु इनकी कवितामें कुछ ऐसी विशेषता नहीं जिसका प्रभाव नवयुगकी कवितापर पड़ा हो।

बा० हरिश्चन्द्रके पश्चात् संवत् १९१६ में दो हिन्दी कवियोंका जन्म हुआ जिनके द्वारा आधुनिक हिन्दी-कविताके संसारमें नयी-नयी प्रथाओंका सन्निवेश हुआ। उनमें से एक थे पंडित नाथूरामजी शंकर शर्मा और दूसरे थे पं० श्रीधरजी पाठक। शकरजीने ठेठ खड़ीबोली ही में कविता लिखनेकी नवीन शैलीकी स्थापना की। इन्होंने कविताएँ प्रायः समाज-सुधारकी ही दृष्टिसे लिखी हैं। इसलिये उनमेंसे अधिकांश व्यंग्योक्तियां हैं। भाषाके विषयमें इनकी धारणा थी कि खड़ीबोली तथा व्रजभाषाका

सम्मिश्रण होना कुछ दोष नहीं। हास्य, वीभत्स और शृङ्गार यही इनकी कविताके मुख्य रस हैं। इनका वर्णन गम्भीर तथा साफ होता है खरी कहनेमें शंकरजी सदा अग्रसर रहते थे। इनका 'गर्भरंडारहस्य' न्यायपूर्ण हास्य-का खजाना है। वीभत्स रस वर्णनमें तो आप अत्यन्त कुशल थे। फूहड़का वर्णन करते हुए आपने लिखा है—

'लूगरा गंधात चढ़ी चीकट सी गात,
मुख धोवै न अह्वात प्यारी फूहड़ बहार देत।'

शृङ्गार-रस भी आपने खूब ही लिखा है। परन्तु इनका शृङ्गार प्राचीन कवियोंका सा नहीं है। अंगोंका वर्णन न्होंने बडी ही सुन्दरतासे किया है। 'माँग' के लिये कहते हैं कि—

'कज्जलके कूटपर दीप सिखा सोती है।
कि श्यामघन-मण्डलमें दामिनीकी धारा है।
दामिनीके अंकमें कलाधरकी कोर है।
कि राहुके कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसौटी पर कञ्चनकी लीक है कि
तेजने तमके हियेमें तीर मारा है।
काली पाटियोंके बीच मोहिनीकी माँग है,
कि ढालपर खाँडा कामदेवका दुधारा है॥

होंठोंके लिये आपने लिखा है—

अम्बरमें एक यहाँ दौजके सुधाकर दो
छोड़े बसुधा पै सुधा मन्द मुसकान की।
आज इन ओंठोका सुरंगी रस पानकर,
कविता रसीली भई शंकर सुजान की॥

इनकी कवितामें अश्लीलता, ग्राम्यदोष तथा कटोक्तियाँ बहुत हैं। कहीं-कही तो ठेठ ग्रामीण भाषामें ही इन्होंने पदके पद रच डाले हैं।

जिस समय इनकी कविताकी प्रभा चारों ओर फैल रही थी उसी समय श्रीधर पाठकजीने भी अपनी नवीन शैलीकी स्थापनाकी। 'घनविनय' लिखकर उन्होंने अंगरेजीकी (लिरिक्स) की सी कविताका प्रचार किया। इनकी सूझ भी अनोखी हुआ करती थी। 'काश्मीर सुखमा' में इन्होंने लिखा था—

"कै यह जादू भरी विश्व-बाजीगर-थैली,
खेलतमें खुल परी शैलके सिरपर फैली॥
पुरुष प्रकृतिको किधौं जबै जोबन रस आयौ।
प्रेम केलि रस रेलि करन रंग-महल सजायौ॥
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप संवारति।

पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारती ॥

कविताके संसारमें इन्होंने अनेक नवीन बातोंका प्रचार किया। अंग्ररेजी कविताओंका पद्यमय अनुवाद तथा Blank Verse अर्थात् भिन्न तुकान्त कविता करना इन्हींने प्रारम्भ किया था। इनकी Blank Verse बहुत कुछ अंग्रेजी कवि Morlowe की तरहकी होती है। इनके अनुवाद खड़ीबोली मिश्रित ब्रजभाषामें हुआ करते हैं। अपने अनुवादोंके लिये इन्होंने नये वृत्तोंका व्यवहार किया था जिनका द्विवेदीजीको छोड़कर अब तक शायद किसी ने भी प्रयोग नहीं किया था। भारतवर्ष इनकी भी कविताका विषय है परन्तु प्रकृति-वर्णन अधिक है।

इस युगमें नवीन प्रणालीके चौथे संस्थापक हैं पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'। इनकी कविताने अनेक रूप बदले हैं। पहले पहल इन्होने ब्रजभाषामें ही कविता लिखना प्रारम्भ किया था। परन्तु कुछ ही समयके पश्चात् ये संस्कृत-वृत्तोंमें खड़ी बोलीकी कविता करने लगे। उस समय इनकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट और संस्कृत-मिश्रित होती थी। उसमें संस्कृत-प्रणाली तथा उसीके ढँगकी पूर्ण छाया थी। उसीका अनुकरण

करते हुए इन्होंने संस्कृतकी सी भिन्न तुकान्त कविता अधिक लिखी थी। खड़ी बोलीमें कृष्ण और राधिकाकी चर्चा इनसे अधिक किसीने भी नहीं की है। यद्यपि इनकी राधिकामें तथा धार्मिक अथवा अलंकृत युगकी राधिकामे आकाश-पातालका अन्तर है तथापि हैं वे राधिका ही। इसे हम आधुनिक युगकी एक विशेष नवीनता अवश्य कह सकते हैं। परन्तु इनकी कविताने क्रमशः फिर एक रूप बदला और धीरे-धीरे उसकी गति अधिक सरलताकी ओर होने लगी। उसमें कुछ फारसीके शब्दों तथा मुहावरोंका भी स्वच्छन्द प्रयोग होने लगा। 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' इसी शैलीके उदाहरण हैं। ये ढंगमें मुक्तककी कोटिके होते हैं; इनमें शिक्षाकी भावना कुछ विशेष होती है। पांडित्यपूर्ण, अध्ययनका प्रकाशन भी 'रसकलश' जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थोंमें भली भांति किया गया है। परन्तु उसमें उदाहरणका अंश इतना अधिक सफल नहीं हो सका जितना कि उसकी भूमिका। आंसुओं इत्यादि पर इन्होंने भी Lyrics लिखे हैं। उनमें कहीं-कहीं पर इनके भाव बड़े ही चोखे हैं। जैसे आंसुओंके लिये एक स्थान पर लिखा है—

दर्दसे मेरे कलेजे का लहू ,
देखता हूं आज पानी बन गया ॥
है उसी दिलसे तो वह पैदा हुआ ,
क्यों न आंसुका असर दिलपर पड़े ॥
आंसुओं जब छोड़ तुमने दिल दिया,
किस लिये करते हो फिर दिलमें जगह ॥
जो बुझाते हो कहींकी आग तुम ,
तो कहीं तुम आग देते हो लगा ॥

नये युगका पांचवां दल था जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' का। व्रजभाषाको पुनः जाग्रत करना ही इनका उद्देश्य था। इन्होंने जो कुछ लिखा केवल व्रजभाषामें। इनके छन्द, विषय, तथा अलंकार सभी पुराने ढंगके होते थे। शृंगार-वर्णन भी इन्होंने अच्छा किया है। परन्तु इनका शृङ्गार अश्लीलतासे दूर है। आधुनिक युगमें व्रजरसिक 'कविरत्न' और 'रत्नाकर' की जोड़ी अनुपम है। एक की 'दीप-मालिका' तो दूसरे का 'वसन्त-वर्णन' बस पढ़ते ही बनते हैं। 'भ्रमरदूत' में सरसता न जाने कितनी कूट-कूट कर भर दी गयी है। भ्रमरका तथा व्रजराजके सादृश्यका कितना कवित्वपूर्ण

वर्णन है! कि—

तेरो तन घनश्याम श्याम घन श्याम उतैं सुनि।
तेरी गुंजन मुरलि मधुप,उत मधुप मुरलि धुनि॥
पीत रेख तव कटि बसत, उत पीताम्बर चारु।
विपिनविहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगारु॥

जुगुल रसके सखा॥

अब छठा दल है राजनीतिक कवियोंका। इनमें पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', माधो शुक्ल तथा बा० मैथिली-शरण गुप्त 'मधुप' ही प्रधान हैं। इस दलके मुख्य दो उद्दे-श्य थे। एक तो देशमें राजनीतिक चर्चा फैलाना और दूसरे कविताको अधिक लोकप्रिय बनाना। इन्हीं उद्दे-श्योंको रखकर 'सनेहीजी' ने 'त्रिशूल-तरंग', माधवशुक्लने 'भारत-गीतांजलि' और गुप्तजीने 'भारत-भारती' की रचना की थी। इन पुस्तकोंमें प्राय: सभी कविताओंका विषय है 'भारतवर्ष' और भाषा सरल खड़ीबोली है। इस दलके प्रधान नेता बा० मैथिलीशरणजीने 'मधुप' के नाम-से कुछ उपयोगी अनुवाद भी किये हैं। विरहिणी व्रजां-गना, प्लासीका युद्ध, वीरांगना और मेघनादवध अनु-वादोंमें बहुत ही ऊंचा स्थान रखते हैं। इनकी विरहिणी

व्रजांगना आजकलके नवयुवक कवियोंकी बड़ी ही प्रेम-पात्री हो चुकी है। न जाने कितने उसे अपनानेकी आज भी निरन्तर चेष्टा कर रहे हैं। 'मेघनाद-वध' अंग्रेजोके आधुनिक Blank Verse (अमित्राक्षर) की शैली पर है। यह पाठकजी और हरिऔधजीकी भिन्नतुकान्तसे भिन्न है।

इसी प्रकार सनेहीजीने भी राजनीतिक कविताओंके अतिरिक्त अन्य रूपसे भी हिन्दीके काव्यको अधिक समुज्वल रत्नोंसे परिपूर्ण करनेका सतत प्रयत्न किया है परन्तु इनकी रुचि अन्य क्षेत्रमें प्रायः प्राचीन कवियोंकी सी हो रही है।

इसी दलकी एक प्रधान समर्थक श्रीमती सुभद्रा-कुमारी चौहान भी रह चुकी हैं। इनकी शैली स्वभावतः उच्च कोटिके प्रसादगुणसे युक्त होती है। इनकी 'झांसी-की रानी' अथवा 'वीरोंका कैसा हो वसन्त' शीर्षक कविता अपना विशेष स्थान रखती हैं। "मुकुल" में जालियांवाला बाग अथवा राखीकी चुनौती इत्यादि कितनी ही अत्यन्त सुन्दर रचनाएं इन्हें आधुनिक काव्य क्षेत्रमें बहुत ही ऊंचा स्थान प्रदान करती है।

इस राजनीतिक समूहने अपने विषयको इतना अधिक मथा कि अन्तमें 'मठे' के अतिरिक्त और कुछ न रह गया। उगते हुए कवियोंको इसीलिये अब नवीन विषयोंकी खोज करनी पड़ी और उनका ध्यान प्रकृतिके एकान्त-निरीक्षण तथा 'अनन्त' के प्रेमकी ओर बढ़ा। यह स्वाभाविक ही था। क्योंकि जब सांसारिक बातोंसे मन भर जाता है तब एकांतवास और ईश्वर-भक्तिमें ही शांति मिलती है। इसी क्रमके अनुसार एक नयी शैलीका प्रचार हुआ। इस युगकी यह नवीन शैली थोड़े ही समयमें अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुई और उसके अनुगामी भी सबसे अधिक हो गये। इसके प्रवर्तक थे प० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त 'श्रीनन्दिनी' तथा बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद'। इनकी भाषा मंजी हुई शुद्ध खड़ी बोली होती है। उसमें अन्य भाषाओंके शब्द नहीं आने पाते परन्तु सरलता उसका प्रधान गुण है। इनकी अधिकांश कविताएँ अंग्रेजीकी Odes कीसी होती हैं। और विषय भी प्रायः अत्यन्त सरस और रुचिर होते हैं। जैसे 'झरना', 'पी कहाँ', 'परिचय', 'अभंग', 'उच्छ्वास', 'ग्रन्थी' 'नीरव तार' इत्यादि। इनका प्रेम विश्व-प्रेम है। इनकी भक्ति

है निराकार अनन्त की। इनका स्वर है नीरव गान और मोद है 'उषाकी झिलमिल ज्योति', तथा लहरोंके फेनिल चुम्बनमें। सबसे बडी विशेषता इनकी कवितामें यह है कि आधुनिक युगमें इन्होने 'छायावाद' को पुनः जीवित किया है जो कबीर और सूरके बादसे लुप्तप्राय-सा हो गया था। सबसे पहले निरालाजीने इसका आह्वान किया था इसके बाद प्रसादजी ने 'अतिथि' लिखकर यह घोषणा-की थी:—

'रहे रजनीमें कहाँ मलिन्द ?'
सरोवर बीच खिला अरविन्द
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध,
मधुर मधुमय मोहन मकरन्द ॥

पन्तजीने भी अपनी कवितामें छायावादको अच्छा स्थान दिया है। 'नीरव तार' में वे लिखते हैं—

'हृदय के सुरभित सांस !
छली पलक से छूकर मुझको
निर्बल कर किस ओर
भुलावे में तुम कुसुम कठोर !
बहाते हो ? न कहीं है छोर !

बैठ कर मैं इस पार

शून्य बुद्बुदों से सुनती हूँ
जीवन का संगीत,
तुम्हारा मौन निमंत्रण प्रीत;
विश्वका अंतिम-दृश्य पुनीत॥

इनके छायावादकी तुलना यदि प्रसादजीसे की जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि इन्हें उनसे अधिक सफलता मिली है। इसका कारण एक तो यह है कि इनकी भाषा प्रसादजीकी भाषासे अधिक सरस होती है। इसके अतिरिक्त इनकी कल्पना-शक्ति भी उनसे अधिक प्रौढ़ जान पडती है। परन्तु इस छायावाद और कबीर तथा रैदासके छायावादमें बड़ा अन्तर है। पन्तजीकी शैलीकी एक विशेषता यह है कि इन्होंने हिन्दी-कवितामें एक ऐसी शब्दावलीका प्रचार कर दिया है जिससे इनकी कविता में एक अनोखा माधुर्य आ गया है जो प्रायः खडीबोलीकी कवितामें नहीं देख पड़ता था। उनमेंसे कुछ शब्द तो बड़े ही गम्भीर अर्थवाले होते हैं परन्तु उनमें सरसता अद्भुत भरी होती है। आजकल इनकी यह नवीन परन्तु मधुर शब्दावली अत्यन्त प्रचलित होती जा रही है। लेकिन अर्थ

की गूढ़ता और गुरुताके कारण कहीं-कहीं उन शब्दोंका उपयुक्त प्रयोग नहीं हो पाता। अधिक प्रचलित होनेके कारण इन शब्दोंका दुरुपयोग-सा हो रहा है। इन शब्दों-का ठीक-ठीक प्रयोग तो वही कर सकता है जिसकी कल्पना इतनी ऊँची हो कि वह बादलोंसे कहला सके—

हम सागरके धवल हास हैं
जलके धूम गगन की धूल
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव
वारि-वसन वसुधाके मूक;
नभमें अवनि अवनिमें अम्बर
सलिल भस्म मारुतके फूल ॥

अथवा जो 'अनंग' का स्वागत इस प्रकार करा सकता हो—

बजा दीर्घ साँसोंकी भेरी
सजा सटे कुच कलशाकार।
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोंओं में पुलकित प्रतिहार
बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार

देव! तुम्हारा स्वागत करतों
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार ॥

जिसकी कल्पना इतनी ऊँची नहीं उठ सकती उससे इन शब्दोंका उचित प्रयोग असम्भव है। आज कलके नवीन कवि इन शब्दोंके माधुर्य पर ही मोहित होकर उनका अतिशय प्रयोग करने लगते हैं। जान पड़ता है कि सबकी हृत-तंत्रीके तार हिलसे उठे हैं जिससे नीरव गान क्वाणित हो उठा है और प्रबल उच्छ्वास भी फूट पड़ा है। सभी कवि अनन्तकी ओर कदम बढ़ाये जा रहे हैं, सभी अपनी कल्पनाको गगनके लम्बे-चौड़े मैदानमें सरपट दौड़ानेका प्रयत्न कर रहे हैं और सभी छायावादका राग अलापना चाहते हैं। इसका फल यह हो रहा है कि छायावादके बदले उनकी कविता भ्रमात्मक और कर्म हीन-कल्पनाका उदाहरण हो रही है।

वास्तवमें कविके गूढ़ आन्तरिक भावोंके प्रच्छन्न प्रवाहको छायावाद कहते हैं। परन्तु यह प्रच्छन्न प्रवाह इतना अधिक प्रच्छन्न न हो कि पढ़नेवालेकी समझ ही में न आवे। छायावाद क्रम हीन कल्पनाके समूहको नहीं कहते। किसी भी साहित्यमें छायावादका स्थान सबसे

अन्तमें आता है। सृष्टि-सौन्दर्यका निरीक्षण करना तो कविका सबसे प्रथम कर्तव्य है; द्वितीय स्थान सांसारिक वस्तुओंका और तृतीय आध्यात्मिक विषयोंका हुआ करता है। छायावादका स्थान तो इन सबके भी पीछे आता है। यही क्रम ठीक भी है। शेली (Shelly) ने भी कहा है कि अन्तमें सभी नास्तिक हो जाते हैं। इन शब्दोंमें सत्य कूट-कूट कर भरा है। यह पथ हमें मन और बुद्धिके परे एक अज्ञात प्रदेशमें ले ;जाता है। यद्यपि यह प्रदेश मेघाच्छन्न होता है तथापि उसपर विद्युल्लताकी अपूर्व छटा होती है। उसके दर्शनसे जो आनन्द प्राप्त होता है वह अनिर्वचनीय है। छायावाद काव्य कलाका एक अपूर्व निदर्शन है, कविकी लेखनीका चातुर्य और सूक्ष्माति-सूक्ष्म चमत्कार छायावाद हीमें देख पड़ता है। यह आन्तरिक गूढ़ भावोंके प्रकाशनकी एक विलक्षण शैली है। हिन्दीमें छायावाद कोई नवीन विषय नहीं है। कबीर, सूर तथा अन्य भक्त कवियोंने इसपर बहुत कुछ लिखा है। मध्य-कालीन कवियोंने जो प्रायः शृङ्गारके ही उपासक थे इसका प्रयोग करना छोड दिया था। आधुनिक कालमें इसका पुनर्जन्म हो रहा है। परन्तु आज कलका छायावाद पहले

से बहुत भिन्न है। वैसे तो इसका प्रथम श्रोत अंगरेजी-साहित्य है जहांसे यह बंगला-साहित्यमें आया और इसकी कुछ-कुछ छाया हिन्दीके आधुनिक छायावादमें भी देख पडी। परन्तु तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारा आज कलका छायावाद हमारे कवियोंकी स्वाधीन उपज है और उनको कल्पना उनकी भाव-व्यजना, उनका कौशल पूर्ण रूपसे उन्हींका है। केवल थोडीसी समानता यह नहीं सिद्ध कर सकती कि यह कहीं अन्यत्रसे लिया गया है।

इस ओर आधुनिक कवियोंकी इतनी अधिक रुचि होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि इस युगमें शृङ्गारमयी कविताका अभाव है। आधुनिक समयमें उसने भी कई रूप धारण किये हैं।

इसका पहला रूप तो वह था जो बा० हरिश्चन्द्रने 'यहि भाखै पतिव्रत ताखै धरौ' कह कर आरम्भ किया था। यह केवल कामवासनाको ही शृङ्गार रसका विषय माननेवाले मध्यकालीन कवियोंके भावोंकी ही प्रतिच्छाया थी। कुछ विद्वानोंने मध्ययुगकी इस कुरुचिका कारण इस भांति बतलाया है कि "वारवनिताओंके विलास-

विभ्रममें निमग्न राजाओंने प्रेमकी अपेक्षा शृङ्गार-चेष्टाको ही अधिक पसन्द किया। तब उनके कवियोंने प्रेमको छोड़कर शृङ्गार-चेष्टा-वर्णनमें ही अपनी कविता-शक्तिकी पराकाष्टा कर दी।" इसी विषयपर पाश्चात्य विद्वान 'के' (Key) कहता है कि "स्त्रियोंके परदेमें रहनेके कारण और बालविवाहके प्रचारके कारण युवावस्थाका अद्भुत प्रिय समय जो प्रार्थना और प्रेमका समय है, भारत-वर्षमें तरुणियों और युवकोंके भागमें पड़ता ही नहीं। इसी कारण जहां कहीं प्रेम-वर्णन किया गया है वहां बहुधा उसका सम्बन्ध बाह्य नारियोंसे ही अधिक रहा है।"

इस युगमें इसका दूसरा रूप वह था जिसे इसने 'प्रेमघन', 'हरिऔध' 'मैथिलीशरण गुप्त', 'किशोरीलाल गोस्वामी', 'रामचन्द्रशुक्ल' तथा 'सत्यनारायण' कविरत्न-से पाया था। इनके शृंगारमें न तो नवेली नायिकाओंकी भरमार है और न नखशिखकी निराली छटा है। वहां तो सीधे-साधे सच्चे हृदयका प्रेम वर्णित है। यदि 'प्रिय-प्रवास' में हरिऔधजीने कृष्ण और राधिकाकी सृष्टि की है तो उन्होंने उनकी लीलाओंको नये ही रंगमें रंग

दिया है। कृष्ण और राधिकाके अलौकिक प्रेमको लौकिक बनाकर इन्होंने इसे अनुकरणीय कर दिया है। इसी प्रकार 'साकेत' की उर्मिला और 'यशोधरा' की यशोधरा आधुनिक काव्य-साहित्यकी अनोखी मौलिक विभूतियां हैं। इस समय तक शृंगारका आदर्श भारतीय ही है। पाश्चत्यकी छाया नहीं देख पड़ती। परन्तु आगे चलकर यह रूप शीघ्र ही बदलता देख पडता है।

अब प्रेम एक विचित्र रूप धारण करता देख पड़ता है। उसमें उसका पहचानना भी कठिन हो जायगा। ऐसा जान पडने लगता है कि जैसे संसारसे प्रेमका अस्तित्व ही उठ रहा हो। इसका क्या कारण है कि आज-कलके नवयुवक कवियोंको अब कदम्बके नीचे कटीले कजरारे नयनोंका देखना कम भाता है? आज-कलके प्रेमका न तो वह आदर्श ही रह गया है जिसपर सूर और तुलसी मुग्ध हुए थे और न वह विलास-विभ्रम जो पार्थिव ऐश्वर्यका अलंकार था। वास्तवमें प्रेमका सच्चा बर्णन करनेके लिये कविको पहले स्वयं प्रेमी बनना अत्य-न्त आवश्यक है। परन्तु प्रेमका अनुभव करना सरल नहीं। आजकलके नये कवियोंने प्रेमका राग अनोखे ही

प्रकारसे अलापना प्रारम्भ है कर दिया । इसका वर्णन किसीने बड़े ही अच्छे ढङ्गसे किया है कि 'हिन्दीके नव-युगके कवियोंने प्रेमोन्मादका वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब यह जान पडने लगा है कि प्रियतमकी खोज की जा रही है। कोई-कोई आहें भी भरने लगे हैं। ऐसा जान पडता है कि इसका श्रेय अल्फ्रेड कम्पनी और सिनेमावालोंको ही है। अधिकांश कविताओंमें उसी प्रेम-लीलाकी छबि दिखायी पडती है जो रंगभूमिके पर्देके भीतर है। इनके अलंकार मिथ्या हैं, इनकी भाषा मिथ्या है, इनके भाव मिथ्या है, इनका रूप मिथ्या है; तो भी इनमें उन्माद हैं। रंगभूमिकी नायिकाकी तरह इन कवियोंकी नायिकाएँ भी रहस्यमयी हैं। न कोई इनका यथार्थ रूप देख सकता है और न इनका अनुभव कर सकता है। निस्सन्देह अंग्रेजी-साहित्यकी छाया खूब ही पड़ी है। उनसे प्रभावित होकर इस कोटिके आधु-निक कवियोंने भारतीय आदर्शको ही बदल डाला हैं। पाश्चात्य साहित्यमें प्रेमका क्रम विपरीत है। वहां प्रेमी प्रेमिकापर आसक्त होता है और अपने प्रेमका पहले परिचय देता है। इस आदर्शकी टेनिसनने तो पराकाष्ठा

ही कर दी—

World start and tremble under her feet
And blossom in purple and red.

हिन्दी-कवितामें भी आजकल यही लहर बढ़ रही है। आजकलके कवियोंमें कोई तो शैलीकी ऊँची कल्पनाओं पर मोहित है तो कोई कीट्स (Keats) के मृदुल तथा ललित भावोंपर लट्टू है, परन्तु प्रेमका वह सच्चा आदर्श जो कोलरिज (Coleridge) ने अपनी कवितामें प्रकट किया था बहुत ही कम देख पड़ता है :—

All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs the mortal fame
Are all but ministerials of love
And feed the sacred flame.

श्रृंगार-रसकी कविताकी इस न्यूनताके लिये आजकलके कवि ही सर्वथा दोषी नहीं हैं क्योंकि आजकल हमारा देश पराधीन है। ऐसी स्थिति करुणारस लिखनेके लिये अधिक उपयुक्त हो सकती है। आजतक कोई भी पराधीन देश श्रृंगाररसकी अच्छी कविता नहीं लिख सका क्योंकि पराधीन अवस्थामें हृदयमें नवीन स्वच्छन्द

भावोंका सर्वथा अभाव रहता है। शृंगारका ही एक अंग है विरह। हरिश्चन्द्रसे लेकर आजतक न जाने कितने कवियोंने विरह वर्णन किया है। परंतु सच्चा वर्णन विरले ही कर सके हैं। विरह-वर्णनमें अतिशयोक्तियोंकी भरमार कर देना कोई कठिन बात नहीं परंतु विरहका सच्चा रूप दिखाना अत्यन्त कठिन है। विरह और करुणा यही तो ऐसे विषय हैं जिनसे सच्चे कविकी परख होती है। अकृत्रिमता और यथार्थता यही तो कविताकी सबसे बडी कसौटी है। सच्चा विरह-वर्णन करनेके लिये इनकी सबसे अधिक आवश्यकता है। सच्चे विरह-वर्णनमें कवि अपने आपको भूल जाता है। जिसका हृदय पीड़ासे व्याकुल होगा वही विरहकी व्यथाको समझ सकता है। विरहकी गाथा वही गा सकेगा जो कफनी बांधे दर-दर अलख जगाता होगा। जिसकी रात तारे गिनते-गिनते कट जाती होगी। उसके विरह-वर्णनमें न तो कोई बाहरी चमत्कार होगा और न अस्वाभाविक अलंकारोंकी भरमार। विरहीको इतना ध्यान कहां कि वह अच्छी-अच्छी उक्तियां ढूंढ़ता फिरे। परम विरही कबीर कहते हैं—

जो एक हृदयसे निकलकर सीधी दूसरे हृदयमें प्रविष्ट हो जाय यह तभी सम्भव है जब कवितामें भावोंकी सत्यता हो। क्योंकि सत्यता ही प्रत्येक कलाकी आत्मा है और इसीमें उसका सौंदर्य है।" केवल शब्द चातुर्यसे ही इतना बड़ा उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। सम्भव है चमत्कृत उक्ति कुछ समयके लिये विस्मित भले ही कर दे—उसके वाह्य रूपपर चाहे हम मोहित भी भले हो जायँ परन्तु काव्यके स्थायी आनन्दके लिये उसमें सच्चे भावोंका होना अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि मध्ययुगके कवि प्रायः शृंगारी ही होते थे परंतु उस समय भी गंग, भूषण, लाल, सूदन और चन्द्रशेखर इत्यादि वीर रसकी ही कविताएँ लिखा करते थे। इन कवियोंने जो कुछ वीर रस लिखा था वह या तो अपने संरक्षक क्षत्रिय वीरोंको युद्धके लिये प्रोत्साहित करनेको या उनकी वीरताका यश-वर्णन करनेके लिये, परन्तु आधुनिक समयमें जो कुछ वीर रस लिखा गया है उसका कारण और है। इसीलिये दोनोंमें समानता बहुत कम है। आजकलकी वीर रसकी कविता देश-सेवा और मातृभूमिके प्रति प्रेमका उद्गार है। इन उद्गारों-

का वर्णन भी सर्वत्र एक-सा नहीं है। बाबू हरिश्चन्द्र, भानु तथा लाला भगवानदीनने जो कुछ वीर रसपर लिखा है वह भी देश-प्रेमके ही नामसे लिखा गया है परन्तु इन कविताओंमें वैरीके प्रति एक अनोखी ललकार का अनुभव होता है। इनके बाद जो कुछ वीररस लिखा गया, जिसके उदाहरण 'त्रिशूल' 'भारतीय आत्मा' और 'प्रणवीर' या 'सुभद्रा कुमारी' की कविताओंमें मिलता है वह कुछ और हा ढंगकी है। निस्संदेह इसका श्रोत भी स्वदेशप्रेम ही है परन्तु उन कविताओंमें शत्रुके प्रति ललकार नही है बरन आत्मोत्सर्गके लिये प्रोत्सा-हन है। इन कविताओमें शस्त्रोंकी झनकार नहीं सुन पड़ती बरन उनकी जगहपर बेड़ियोंकी खनखना-हट हो सुनाई देती है। पहलेके और अबके वीररसमें सबसे बड़ी विभिन्नता यही है कि पहलेका वीररस 'उद्दीपक' अर्थात् (Active) होता था परंतु अब वीररस 'सहिष्णु' (Passive) है। आजकल वीर पुरुषोंकी कथाओंके मिस वीर रस लिखनेकी नयी प्रथा चली है ऐसी अधिकाश कथाओंके प्रकरण मुख्यतः राणा प्रतापसिंह और अभिमन्यु ही हैं। पंडित शिवाधार

पांडेयका 'उत्तरा-मिलन' और गुप्तजीका 'जयद्रथ-वध' उत्तम श्रेणीकी कविताएं हैं। महाराणा प्रतापपर भी उत्तमोत्तम कविताएं लिखी गयी हैं।

मानव हृदयके शृङ्गार और करुणा यही दो प्रधान रस हैं और कविता तो हृदयकी वस्तु है। इसलिये उसमें इन्हीं दोनोंका प्राधान्य भी है। परन्तु इन दोनों रसोंमें भी कविता किसमें अधिक प्रस्फुटित होती है इसका निर्णय करना सरल नहीं। यदि कुछ सहृदय कवि और विद्वानोंने शृङ्गारको सब रसोंका राजा माना है तो भवभूति जैसे महाकवियोंने 'एको रसः करुणएव निमित्त भेदात्' इत्यादि कहकर करुण रसको भी कम समाद्रित नहीं किया है। हिन्दीके इस युगके कवियोंने भी करुण-रसका अच्छा सम्मान किया है। यदि फणीसजी एक बाल-विधवाके विलापसे खिन्न होकर कह देते हैं कि—

'यौवन जन्म प्रभातहिमें अहिवात प्रभाकर मेरो। अथै गयो'।*

---

* फणीसजी एक अन्य बाल विधवाका भी 'वर्णन' बहुत ही सुन्दर करते हैं — सामनेके पृष्ठपर पढ़िये।

तो सुभद्रा कुमारी भी वियोगागमन', 'बिदाई', 'करुण-कथा' इत्यादि अपनी छोटी-छोटी रचनाओंमें करुणाकी साक्षात् मूर्ति-सी सामने लाकर खड़ी कर देती हैं।

इस युगमें प्रवृत्ति यथार्थकी ओर अधिक होती जाती है। कवितामें यद्यपि कल्पनाका आभास आवश्यक है तो भी आजकलकी रुचि यह है कि कल्पना भी यथार्थ ही होनी चाहिये। कवि अपने वर्णनमें चाहे विचित्रता भले ही प्रदर्शित करे परन्तु जिसका वर्णन करता है वह अवश्यही यथार्थ होना चाहिये।

यह भेद फनीस न जानती आजु मैं
भोर ही तालमें बोरी गयी।
उतै अम्मा अचेत मरी सी परी
इतै चूनरी चारु हूं छोरी गयी।
नयी सारी पिन्हाय उतारि कै भूखन
भाल सो धोयी सु रोरी गयी।
यह स्वांग है कैसो बताउ सखी
कर चूरी चराक दै फोरी गयी॥

इसी प्रकार आधुनिक युगका हास्य भी कुछ और ही हो गया है। मध्य-युगमें हास्य रस एक तो था ही बहुत कम, और जो कुछ था वह भी केवल एक ही प्रकारका। उस समयके हास्य रसमें प्रायः धनिकोंका ही मजाक उड़ाया गया है। परन्तु इस युगमें बा० हरिश्चद्र, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बा० बालमुकुन्द गुप्त कल्लू अल्हइत अथवा पं० जगदम्बाप्रसाद हितैषी इत्यादि इस ओर कुछ नयी आयोजनाएँ उपस्थित कर चुके हैं। इनका हास्य भी बहुधा व्यंग्यपूर्ण ही होता है। परन्तु इनकी शैली बिलकुल नवीन है। विषय भी सबके एकसे नहीं हैं। यदि कोई शासनकर्ताओंका उपहास करता है तो दूसरा अंग्रेजी पढ़े-लिखे, अपटूडेट' जन्टलमैनोंकी दिल्लगी उड़ाता है।

समस्त स्थितिको देखते हुए यह तो प्रत्यक्ष ही ज्ञात होता है कि हिन्दी-कविता इस युगमें पहलेसे बहुत अधिक परिवर्तित हो गयी है। क्या उसकी भाषा और क्या भाव सभी एक नवीन साँचेमें ढल चुके हैं। यह था भी स्वाभाविक ही। क्योंकि परिवर्तन तो संसारका नियम है। परन्तु देखना यही था कि ये परिवर्तन किस प्रकार हुए तथा इनका अन्त अच्छा है या बुरा। निःसन्देह पहले

प्रश्नका उत्तर अब अधिक कठिन नहीं है, परन्तु दूसरेके विषयमें अभी न कुछ कहा गया है और न निश्चित रूपसे कुछ कहा ही जा सकता है। क्योंकि अभी तो युगका प्रारम्भिक काल है। प्रभाव पड़ते ही जाते हैं और परिवर्तन भी होते ही जाते हैं। इनका वेग इतना प्रबल है कि गति किस ओरको है यह भी जानना कठिन हो गया है। जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है आशा यही है कि इस युगमें पहलेके समान अच्छे समालोचकोंकी कमी नहीं है। इन परिस्थितियोंके कारण सच्ची कविताका आसन उसीको मिलेगा जो उसके योग्य होगी।

५

हिन्दी और अंग्रेजी साहित्यका तुलनात्मक विवेचन

सहसा दो विभिन्न देशोंके साहित्योंमें समता देख लेना कम आश्चर्यकी बात नहीं। परन्तु मानव स्वभाव सर्वत्र ही एक-सा होता है। यह एक पुराना सिद्धान्त है। इसका प्रत्येक शब्द अक्षरशः सत्य है। इसकी परख किसी भी क्षेत्रमें की जा सकती है। एक-सी दशामें पड़कर मनु-

ष्य एक ही सा कार्य करता है चाहे वह भारतवर्षमें हो या कहीं और। विधि अथवा शैलीमें भेद तथा समयका हेर फेर तो एक नैसर्गिक नियम है परन्तु इसका आन्तरिक समतापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साहित्यसे बढ़कर इस समताका परिशीलन शायद ही कहीं और हो सके। क्योंकि साहित्यका मानव जीवनसे बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है और इसीलिये मानव समाजसे भी इसका एक अनिवार्य सम्बन्ध है।

प्रायः यह देखा जाता है कि पहले समाजकी रुचि एवं उसकी परिस्थिति साहित्यका निर्माण करती है तदुपरान्त यही साहित्य समाजकी रुचि एवं उसकी परिस्थितिका बहुत अंशोंमें निर्माण करता है। परन्तु सैकड़ों वर्षोंके विस्तृत साहित्यकी आलोचनाके लिये एक छोटासा लेख पर्याप्त नहीं हो सकता। बरन इस लेखको तो इस नवीन विचार धाराकी केवल भूमिका ही कहना चाहिये।

अस्तु हिन्दीका उत्पत्ति काल लगभग १००० ई० कहा जाता है और इसके तीन सौ वर्ष पहले अंग्रेजी साहित्यकी नींव पड़ चुकी थी दोनों साहित्योंके प्रथमांकुर

वीर रस प्रधान थे। "एंग्लो-सैक्सन" काव्यके विषयमें फ्रेञ्च विद्वान 'रेन' ने कहा है कि "यह तो मारकाटसे लबालब भरा है, अस्त्रोंकी झङ्कार तथा युद्धका कोलाहल इसमें प्रायः पगपगपर सुन पड़ता है।" न केवल यही थोड़ेसे महाकाव्य बरन अन्य भी कितनी ही रचनाएं इस समयकी देखनेमें आती हैं जो वीर-गाथाओंकी सर्वोत्तम श्रेणीमें रखने योग्य हैं। जैसे १२०५ ईस्वीमें "लेयामोन" ने ३००० पक्तियोंके 'ब्रट' नामक काव्यमें प्राचीन इङ्गलैंडका ऐतिहासिक गौरव गाया था।

इसी प्रकार लगभग ४०० वर्षके लम्बे चौड़े विभागमें भारतका साहित्य भी वीर रससे परिपूर्ण रहा है। कविचन्द बरदाईने यदि पृथ्वीराज रासो लिखा था तो कमसे कम चार ही और रासो जगनायक, और नरपति इत्यादि कवियोंने भी लिखे थे।

हमारा रासो साहित्य वीर रससे आद्योपान्त पूर्ण है। न केवल साहित्यिक ही बरन राजनीतिक परिस्थिति भी दोनोंही देशोंकी बहुत कुछ एक-सी थी। यदि यहां एक राजपूत दल दूसरे राजपूत दलके प्रति दांव घात लगाये था तो वहां भी एक लार्ड या बैरन दूसरेपर दांत पीसा करता

था; यदि यहां मुसलमानोंके हमले होते रहते थे तो वहां भी 'कांकरर' का आतंक कम न था। अर्थात् शांति न यहां थी और मारकाट और पारस्परिक बखेड़े जिस प्रकार यहा नित्य प्रतिके धन्धे हो गये थे उसी प्रकार वहां भी। ऐसी अशान्ति पूर्ण परिस्थिति केवल वीर रसके लिये ही उपयुक्त हो सकती थी और फलतः दोनों ही देशोंके साहित्यमें वीर रसका प्राधान्य है भी। परन्तु इतने पर भी दोनोंमें कुछ न कुछ भेद तो है ही। यहांका रासो साहित्य केवल एक कथाके रूपमे राजाओं या वीरोंका गुणगान ही नही है वरन वह तो एक पूरा इतिहास है परन्तु "बूउल्फ" (Beuwlf) इत्यादिकमें कथांशपर ही अधिक ध्यान रक्खा गया है।

रासो साहित्यके विषयमे लोगोको धारणा कुछ ऐसी बन्ध गयी है कि उसकी उत्पत्ति केवल मुसल्मानोंके युद्धों-के कारण हुई। यह ठीक नहीं क्योंकि जैसा इतिहाससे ज्ञात होता है बुन्देलखण्डपर मुसलमानोंका हमला बहुत कालतक नहीं हुआ था वरन यो कहना चाहिये कि जब मुसल्मानोंके आगमनका कोई प्रभाव भी बुन्देलखण्डपर नहीं पड़ा था उस समय भी वहां 'आल्हखण्ड' इत्यादिकके

रूपमें रासो साहित्य बन चुका था। इससे तो यही सिद्ध होता है कि रासो साहित्यकी उत्पत्ति राजपूतोंके पारस्परिक कलहके ही कारण हो गयी थी। इसके अतिरिक्त इस समयकी "प्राकृत" एवं "अपभ्रंश" मिश्रित भाषा वीर रसके काव्यके लिये कुछ उपयुक्त भी अधिक थी।

यह लम्बा युग अभी बीतने भी न पाया था कि दोनों देशोंकी परिस्थितिमे फिर एक घोर परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। यदि इंग्लैण्डमें जर्मनोंको हटाकर अंग्रेज अपना राज जमा रहे थे तो भारतवर्षमें यवनोंकी सत्ता बढ़ती जाती थी। नई शासन प्रणालीके साथ बड़े-बड़े धार्मिक उलट फेर भी होने लगे थे। यहां तक कि समाज भी अपनी दशा बदलता-सा देख पड़ने लगा था। ठीक ऐसे ही अवसरपर इंग्लैंडमें "चासर" का जन्म हुआ और अपने जीवन कालमें ही उसने संसारको न जाने कितने रूप बदलते देखा। जिस समय उसने अपनी लेखनी उठाई उस समयतक वहांपर एक नया आन्दोलन जो "Humanism" के नामसे विख्यात था। बड़े वेगसे फैल रहा था। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें "सौन्दर्य" और "जीवन" की चाह बढ़ रही थी और स्वच्छन्द सांसारिक जीवनका

भाव भी साहित्यमें पैठ चुका था अब साहित्यमें हवाई किले नहीं बांधे जाते थे बरन उसमें जीवनका साक्षात प्रतिबिम्ब देख पडता था। और 'चासर' ने 'नाइट्सटेल' इत्यादिक लिखकर 'प्रेमकथाओं' की प्रथा भी प्रारम्भ कर दी थी।

अब यदि इसी समयका भारतवर्षका चित्र देखा जाय तो वह भी इससे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। न केवल शासन सम्बन्धी हेरफेर ही बरन धार्मिक एवं सामाजिक समस्या यहा भी कुछ कम जटिल न थी। यही समय था कि बाबा गोरखनाथने शैव एवं शाक्त धर्मोंकी घोषणा की थी, यही समय था कि रामानन्द प्रभृति धर्मात्माओं-ने वैष्णव धर्मकी स्थापना की थी और विद्यापतिने भी मिथिलामें वैष्णव धर्मका बीज बो दिया था। नानकने भी "सिक्खों" को दीक्षित कर दिया था। जब समाजकी ही दशा इतनी जटिल थी तब साहित्य ही भला इसके प्रभावसे कैसे बचा रहता? यदि चासर इत्यादिक विद्वानोंके साहित्यमें इंग्लैंडका चित्र मिलता है तो यहाँ-का साहित्य भी सामयिक परिस्थितिका एक चित्र ही है। इन विविध धर्मोंके अतिरिक्त "सूफी" मत भी अब

अपना परिचय देने लगा था। इसके तत्व भी कुछ कम निगूढ़ नहीं थे। हिन्दीके सर्वप्रथम मुसलमान कवि मुल्ला दाऊद इसीके पोषक थे और "नूरकचन्दा" नामक प्रेम-कथा लिखकर इन्होंने इस नयी धाराका साहित्यमें आविष्कार किया था। इसके पश्चात् जायसी और कुतुबनके हाथोंमें पडकर इंगलैण्डकी भाँति भारतमें भी इसका खूब ही प्रचार हुआ। ये एक प्रकारकी 'अन्योक्तिमय-प्रेम-कथाएं" (Alligorical love romances) हुआ करती थीं। चारसकी प्रेम-कथाओंमें तथा इनमें केवल भेद इतना ही हुआ करता था कि ये 'अन्योक्तिमय' होती थीं और वे कथाके मिस समाजका एक चित्र। परन्तु आगे चलकर यही कथाएं इंग्लैण्डमें भी सोलहवीं शताब्दीमें "स्पेन्सर" के हाथोंमें पडकर अन्योक्तिमय होने लगी थी। स्पेन्सर-की 'फेयरी क्वीन' इसका एक अच्छा उदाहरण है। परन्तु इनमें भी आपसमें भेद होता ही था। इंगलैंडकी ऐसी अन्योक्ति मय कथाएं प्रायः सदाचार विषयक हुआ करती थीं परन्तु यहाँकी बहुधा आध्यात्मिक। कुछ भी हो, यह साहित्यिक धारा भी दोनों ही स्थलोंमें यथेष्ट रही। धार्मिक जागृति ही इसका कारण हो सकती है।

१५ वीं शताब्दीके प्रारम्भ होते ही मानव-जीवनके इतिहासका नया पृष्ट खुल जाता है। परन्तु इस नवीनतामें भी पुरानी नीवके चिन्ह पग-पगपर देख पड़ते हैं। यह दशा दोनों ही देशोंकी थी। दो विभिन्न साहित्योंमें पग-पगपर इतनी अधिक समान्ता कभी कभी ही मिला करती है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इंगलैण्डमें चासरके समयमें ही Humanism का प्रभाव पड़ चुका था और यह आन्दोलन भी इटलीके सम्पर्कका ही फल था। अब वहींसे फिर प्रभावित होकर "वायट" और "सरे" एक नये आन्दोलनका प्रचार करते हैं और यदि ध्यानसे देखा जाय तो यह भी Humanism पर ही स्थित था और दोनोंमें भेद भी कुछ विशेष न था। "वायट" और "सरे" ने "सानेट्स" का साहित्यमें आविष्कार एक नये सिरेसे किया। इन्हें सन १५५७ ई० में "टाट्ल" ने अपनी "मिसेलेनी" में एकत्रित किया था। इनका प्रभाव इंगलैण्डके साहित्यपर इतना अधिक पडा था कि देशमे चारों ओर प्रेम गीतोंका समुद्र-सा लहराने लगा कि साहित्यका प्रत्येक पार्श्व उसीसे परिप्लावित हो गया।

अब यदि यहांके साहित्यपर दृष्टि डाली जाय तो जैसा देखा जा चुका है कि रामानन्द, विद्यापति तथा गोरखनाथकी कृपासे वैष्णव एवं शाक्त धर्मोंकी सृष्टि हो चुकी थी। परन्तु शैव और शाक्त समयके अनुकूल न होनेके कारण अधिक जड़ न पकड सके। वैष्णव धर्म धीरे-धीरे अपना स्थान पाता ही रहा, परन्तु अब धीरे-धीरे इसके भी नये नये रूप देख पड़ने लगे। यद्यपि रामानन्दने अपने धर्मके प्रचारके साथ ही साथ अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सुधारोंकी भी आयोजनाकी थी परन्तु जहां-तक उपासनाका सम्बन्ध था वहाँ तक उन्होंने रामको विष्णुका अवतार मानकर केवल उन्हींकी उपासनाका नियम रक्खा था। कबीर दास थे तो, उन्हींके चेलेपर उनका सिद्धान्त कुछ दूसरा ही था। यों तो वे भी 'राम'के ही उपासक परन्तु इनके 'राम' विष्णुके अवतार अथवा दशरथके पुत्र न थे बरन वे तो व्यापक निर्गुण परब्रह्म थे। इसी समय वैष्णव मतके एक तीसरे रूपकी भी आयोजना हुई। वह थी कृष्णको विष्णुका अवतार मानकर उनकी उपासना। इसके प्रवर्तक थे वल्लभाचार्यजी। इन तीनों सिद्धान्तोंमें अन्तर केवल बाह्य रूपका

ही न था वरन "भावना" का अन्तर विशेष था। रामानन्दके अनुयायी अपने इष्ट देवकी "उपासना" पर बहुत अधिक ध्यान देते थे न कि उसकी 'भक्ति' पर। उनकी उपासनामें भक्तका अपने इष्टदेवके प्रति स्वामीभाव हुआ करता था परन्तु वल्लभाचार्यने "भक्ति" पर विशेष ध्यान दिया और उनका अपने देवताके प्रति 'सखाभाव' था। कबीर साहबका सिद्धान्त इन सबसे भिन्न था। वे तो यौगिक क्रियाओंके द्वारा सम्पूर्ण भक्तिके ही प्रतिपालक थे और इसीको वे सिद्ध मार्ग समझते थे।

परन्तु इन सब भेदोंके होते हुए भी सबमें एक बड़ी भारी समानता थी कि सबोंने प्रेमको ही मुख्य स्थान दिया था। धार्मिक उथल पुथलके कालमें प्रेमकी पुकार प्रायः देशके कोने कोनेमें पहुंच चुकी थी। उस समय के जीवनपर प्रेमकी सत्ताका पता तभी चलता है जब उस समयके साहित्यपर एक व्यापक दृष्टि डाली जाय। जिधर ही दृष्टि उठती है उधर ही साहित्यका सिन्धु "प्रेम" की तरंगोंसे उद्वेलित देख पड़ता है। अत. दोनों साहित्य महासागरोंमें प्रेमका ज्वार-भाटा प्रायः एक ही समयमें उठा।

परन्तु इन्हे देखकर कोई यह न समझ बैठे कि दोनों 'प्रम' एक ही हैं। नहीं बरन यदि इंगलैंडका साहित्य सांसारिक-प्रेमसे उन्मत्त है तो भारतवर्षका एक अलौकिक एवं आध्यात्मिक प्रेमकी तरङ्गमें मस्त है। इस विभिन्नताका कारण शायद दोनों देशोंके भिन्न जीवनोद्देश्य ही हो सकते हैं। क्योंकि भारतने जीवनको किसी और ही दृष्टिकोणसे देखा था और इंग्लैंडने किसी दूसरेसे। दोनो देशोंकी परिस्थिति ही कुछ अधिक भिन्न रही है। भारत-वर्षकी तरह इंग्लैंडको पराधीनताकी बेडिया नही पहननी पडी हैं और न यहां वालोंकी-सी घोर यातनाए ही सहन करनी पड़ी हैं। क्योंकि भारतकी अपेक्षा इंग्लैंड एक अधिक स्वाधीन देश रहा है। इन अनेक धर्मोका शान्ति-पूर्ण स्वभाव सहसा हमारा ध्यान आकर्षित करता है एक ही समयमें इन एकसे धर्मोंकी उत्पत्ति कैसे हो गयी? शायद ऐसे समयमें यहांके मनुष्योंको ऐसे ही शांतिपूर्ण धर्मोंकी आवश्यकता थी। इनका प्रचार भी इतनी शीघ्रता-से इसी लिये हो गया कि इस समय भारतमें शासकोंका अत्याचार इतना अधिक बढ़ गया था कि इन्हें ईश्वरके नामके अतिरिक्त और कुछ सूझ ही नहीं पड़ता था जैसा

एक विद्वानने कहा है कि "व्याकुल हृदयको अन्तमें धर्म मेंही त्राण मिलता है"। परन्तु अभी कलाकी दृष्टिसे यह प्रेम पूर्णताको नहीं पहुंचा था।

अब जो परिच्छेद हमारे सम्मुख खुलता है वह उन साहित्य-सेवियों अथवा साहित्य रत्नोंका इतिहास है जिनकी निर्मल ज्योति आज सैकड़ों वर्षोंसे अपने अपने देशोंको समुज्वल किये हुए है। ये तो वो अखण्ड-दीपक हैं जिनकी ज्योति न आजतक मलीन हुई है और न होने की कोई आशंका ही है। सोलहवीं शताब्दीका यह प्रारम्भिक काल वह था जिस समय दोनो देशोंमें साहित्यांकुरोंके लिये भूमि बिल्कुल तैयार हो चुकी थी। जैसा अभी ही देखा जा चुका है कि "प्रेम" जो किसी भी साहित्यका सबसे अधिक मनोहर पौधा हुआ करता है उसकी नयी २ कलमें दोनो देशोंमें लग चुकीं थीं और उन कलमोंके लगानेवाले माली भी "वायट" और "सरे" "वल्लभाचार्य" और "रामानन्द" और "कबीर" जैसे कुशल पुरुष थे। फिर दूसरा सौभाग्य यह था कि इन कलमोंको लगाकर वे लोग इन्हें उन हाथोंमें छोड़ चले थे जो उनसे कम कुशल न थे। 'स्पेन्सर', 'शेक्सपियर' और 'जानसन'

यदि इंग्लैंडमें थे तो भारतमें भी सूर और तुलसी थे और थी मीरा। इन लोगों के हाथमें पड़कर दोनोंदेशोंके साहित्योंकी जितनी वृद्धि हुई है उतनी कदाचित अन्य किसी समयमें नहीं हुई। बस यों कहना चाहिये कि इनके हाथों में पड़कर साहित्यों को अमरत्व-सा प्राप्त हो गया। समय भी अत्यन्त अनुकूल था। इंग्लैंडका यह "एलिजबीथन" युग जैसा कि कोई भी इतिहासवेत्ता कह सकता है बड़ी ही शांति एवं समृद्धिका समय था इसी प्रकार भारतमें भी अकबरका शासनकाल भारतकी समृद्धिका था। कमसे कम "संस्कृति" और "साहित्य" की वृद्धि तो इस समय बहुत हो चुकी थी। जब माली और भूमि और समय तीनो ही अनुकूल हों तब कौनसा पौधा पूर्णरूपसे अंकुरित न होगा। प्रेमका यह पौधा स्पेन्सर के हाथोंमें पड़कर "अन्योक्तिमय-प्रेममहाकाव्य" में परिणत हो गया था; इसी प्रकार शेक्सपियरके हाथों में मानव-प्रकृति" एवं "रागो" के रूपमें इसके अनेकों सुन्दर सुन्दर अंकुर निकले थे। परन्तु यह समझना ठीक न होगा कि प्रेमका पौधा सर्वत्र एक ही तरहके फूल उत्पन्न करता है। नहीं बरन यह तो वह पौधा है जिसमें एक ही पेड़मेंसे

रंग-बिरंगे सुहावने पुष्प निकलते हैं। आवश्यकता तो एक कुशल मालीकी थी। शेक्सपियरके हाथों ठीक यही हुआ। यह प्रेमकी धारा "मानवराग" एवं "मानव-वृत्ति" की समीक्षा तक ही परिमित न रह गयी। बरन देश-प्रेमकी ओर भी उसके बहावमें बड़ा वेग था। आगे चलकर "जानडन" ने भी इसपर अपनी छाप लगायी। उनका आध्यात्मिक विवेचन (metaphysical conception) "एब्राहमकाउले" के हाथोंमें पड़कर और भी अधिक विस्तृत हुआ। अब फिर 'डेनियल' 'ड्रेटन' और 'शेक्सपियर' ने अपने पद लिखे। इनमें इटलीका आदर्श ही उनके सम्मुख था। मानव-प्रेमके बड़े ही मार्मिक दृश्य चित्रित किये गये थे।

अब यदि भारतके साहित्यकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह समय भी हिन्दी साहित्यका सर्वश्रेष्ट समय था। जिस प्रेमका बीजारोपण रामानन्द, कबीर और बल्लभाचार्यने किया था वही अब 'सूर' के हाथोंमें पड़कर नन्द और यशोदा और राधाके प्रेममें पड़कर उमड़ पड़ा। तथा तुलसीके हाथोंमें पड़कर उसने अपना एक "मानसरोवर" ही बना डाला। प्रेम साहित्य होते हुए भी यह भक्तिरससे

ही परिपूर्ण है। परन्तु कबीरके अनुयायियोंने अर्थात् संत कवियोंने जो कुछ रचा उसमें "रहस्यवाद" का प्राचुर्य है। परन्तु यह स्मरण रहे कि यहां का 'रहस्यवाद' 'डन' इत्यादिकके 'रहस्यवाद' उस पांडित्य पूर्ण लेखनीका प्रवाह था जो केवल अपना पांडित्य प्रदर्शित करनेके लिये ही उत्सुक थी। जिसका ध्येय नवीनताको किसी न किसी प्रकार लाना ही था। जो सीधे शब्दोके स्थानपर दार्शनिक एवं तार्किक शब्दावलीको ही अधिक उचित एवं उपयुक्त समझती थी"। परन्तु यहांका 'रहस्यवाद' सचमुच ही 'दार्शनिक' एवं 'आध्यात्मिक' था। जहां देखिये वहीं, अत्मा, परमात्मा, माया और योगकी ही चर्चा थी। परन्तु वहां तो 'सांसारिकता' के अतिरिक्त इन सब बातोंका कहीं पता भी नहीं है।

अब आगे कुछ समयके लिये एक विभिन्न परिस्थिति उपस्थित हो जाती है जैसा ऊपर देखा जा चुका है अभीतक इंग्लैंडके साहित्यकी धारा अधिकांश रूपमें सांसारिक ही रही है। परन्तु "घात और प्रतिघात" भी संसारका एक नैसर्गिक नियम है। साहित्यकी इस सांसारिक धाराके प्रति भी लोगोंकी अरुचि हो गयी।

"धार्मिकता" और 'सदाचार" का चाह साहित्यमें भी दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी। यद्यपि इस समय तक कला एवं साहित्यकी अच्छी वृद्धि हो चुकी थी तथापि रुचि कुछ धर्मकी ही ओर अधिक थी; इसी समय साहित्यक्षेत्र में "मिल्टन" का पदार्पण हुआ। इस कालमें जो कुछ साहित्य उत्पन्न हुआ है उसपर "कट्टर धार्मिष्ठता" (Puritanism) की छाप प्रत्यक्ष है। यह यहां तक बढ़ गयी कि आगे चलकर इसने "धर्मान्धता" का रूप धारण कर लिया। और इसके नामपर "कला" के गलेपर खुल्लम खुल्ला छुरी फेरी जाने लगी।

अब यदि हिन्दी साहित्यपर दृष्टिपात किया जाय तो यहां भी "घात और प्रतिघात" का खेल देखनेको मिलेगा। प्रारम्भसे अब तक हिन्दी साहित्यका प्रवाह प्रायः 'धार्मिकता की ओर ही रहा है। बरन यह कहना चाहिये कि स्वाभाविक प्रवृत्ति ही धर्मकी ओर रही है। परन्तु इसके प्रति भी अरुचि होना आवश्यक ही था। और "मिल्टन" के समयमें जैसे अंग्रेजी साहित्यकी धारा ."धार्मिकता" की ओर बड़े वेगसे जा रही थी ठीक उसी समय हिन्दी-साहित्यकी धारा इस ओरसे हटकर "सांसारिक-

जीवन" की ओर आ रही थी। पर यह भेद अधिक समय तक न रह सका। परन्तु इंग्लैंडमे "धर्मान्धता" की पराकाष्टा हो जानेके कारण वहां फिर एक अरुचि फैल गयी थी। और इस बार हिन्दी और अंग्रेजी साहित्योंमें जो धाराएं प्रवाहित हुईं वे बिल्कुल एक-सी थी। क्योंकि कुछ ही समयके हेर फेरमें इंग्लैंडमें "ड्राइडेन" और 'पोप' का समय आगया और हिन्दीमें "केशव" "देव" "बिहारी" तथा अन्य 'रीति'कालके कवियोंका युग आगया था। दोनो साहित्योंपर विचार करते ही ध्यान तीन बातोंकी ओर जाता है (१) अबके साहित्यसे गंभीरता उठती जाती थी और इसके प्रत्युत "चलते फिरते" साहित्यकी मांग बढ़ती जाती थी। (२) विचारोंकी परिपक्वता अथवा सरसताको छोड़कर अब भाषाके ऊपरी बनाव चुनावपर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। (३) तथा दोनों ही देशोंमें साहित्यका अब एक नया अंग बन चुका था वह था "आलोचना" का। संयोगवश दोनों ही जगह यह बिल्कुल एक-सा था। "सेन्ट्सबरी" ने कहा है कि "यह नवीन आविष्कृत 'समालोचना' अपने "समय" और "नियमों"के प्रतिबन्धोंके द्वारा साहित्यकी ताबड़तोड़

उत्पत्तिमें निरन्तर बाधा डालती थी। 'समालोचना' के इस युगकी ही एक भावना यह भी थी कि इस समय "कल्पना" और "काव्य" की अपेक्षा छान-बीन और पांडित्यका महत्व अधिक था"। ठीक यही दशा हिन्दीकी समालोचना की भी थी। इसीका फल था कि अंग्रेजीमें (Dramatic poesy) और (Essay on criticism) की और हिन्दीमें अनेकानेक रीतिग्रन्थोंकी रचना हुई अंग्रेजीमें तो जैसा 'पोप' ने अपने 'एसे आफ क्रिटीसिज्म' मे कहा है "पुराने आदर्शों" (Classical models) का अनुकरण करना ही ध्येय था। ठीक यही दशा हिन्दीमें थी। यहां भी नित्यप्रति नये नये "कोड्स" तैय्यार होते जाते थे। इस साहित्यमें न तो विचारोंकी गम्भीरता थी और न वास्तविक सरसता बरन केवल भाषा एवं बाह्याडम्बर ही विशेष था। हिन्दीमें तो अलंकार ही साहित्य एवं काव्यकी कसौटी समझ लिये गये थे। अंग्रेजीमें यद्यपि अलंकारोंका इतना प्राधान्य नही था तथापि स्वाभाविकता और सहृदयतासे हटकर अब साहित्य 'अवास्तविकता' की ही ओर अग्रसर हो रहा था। पग-पगपर Rationalism' और 'Utilitarianism' ही उसके पथ

प्रदर्शक हो रहे थे। जो वस्तु तर्कयुक्त नहीं वह तो किसी भांति भी ग्राह्य नहीं समझी जाती थी। बरन यों कहना चाहिये कि काव्य अब धीरे धीरे हृदयकी वस्तु न होकर केवल मस्तिष्क की ही वस्तु होता जाता था। "तर्कप्राधान्य" (Supremacy of reason)को छोड़कर अन्य सभी बातें प्रायः हिन्दी साहित्यमें भी उसी प्रकार लागू हो सकेंगी। 'युक्तिवैचित्र्य' एक प्राधान गुण समझा जाता था।

इन कतिपय बातोंके अतिरिक्त 'सदाचार' का पल्ला भी अधिक नीचा हो चुका था। अंग्रेजीमें तो (Re-toration in morality एक विख्यात वस्तु है परन्तु हिन्दी साहित्यमें भी 'नायिका-भेद' और 'नखशिख' साहित्य इससे अच्छा नहीं है। दोनोंके स्वभावमें समता होते हुए भी कारणोंमें बड़ा भेद है। इंग्लैंडकी सदाचार विहीनताका कारण तो वहांकी 'धर्मान्धता' कही जाती है जो कि इसके कुछ ही पहले वहां प्रचुर रूपसे वर्तमान थी। परन्तु यहांके इस गिरे हुए सदाचारका कारण यहांकी राज सभाएं थीं जिन्होंने अपने विजेता मुसलमानोंसे विलासिताका पाठ बड़ी ही अच्छी तरह सीख लिया था। यहांके कवियों-

को आश्रय प्राय इन्हीं राजदर्बारोंमें ही मिला करता था अतः अपने रक्षकोंकी प्रसन्नताके हेतु कवियोंको नित्य ही नवीन 'नायिकाओं'की खोज एवं रचना करनी पड़ती थी।

परन्तु देश, काल, एवं समाजकी दशा कुछ ऐसी बदली कि साहित्यकी धारामें भी महान परिवर्तन हो गया और होना भी चाहिये था। क्योंकि आखिर समाज एवं काल ही तो साहित्यका विधायक है। यहां पहुंचते ही हमें कुछ अधिक सावधान एवं सजग होना पड़ता है। वैसे तो अब समानताके स्थानपर विपर्यय ही अधिक देख पड़ता है तथापि दोनोंके अन्तिम उद्देश्य एवं फलोंमें कोई भेद नहीं। इस समय लोगोंमें सरस एवं उत्साह पूर्ण साहित्यकी लालसा कुछ बढ़ रही थी साथ ही साथ 'प्रकृति-प्रेम' की भी मात्रा बढ़ रही थी और इस समय लोग 'पोप' और 'ड्राइडेन' के अस्वाभाविकता-पूर्ण 'रेशनलिज्म' से घबड़ासे उठे थे। जहां देखिये वहीं लोग साहित्यको इन कृत्रिम बन्धनोंसे मुक्त करनेकी चेष्टामें लगे हुए थे। साहित्यके प्रत्येक पार्श्वमें परिवर्तन देख पड़ता था। परन्तु सहसा परिवर्तन हो जाना सम्भव नहीं हुआ करता अतः चारों ओर नवीन और

प्राचीन विचारोंमें द्वन्द्-सा मचा हुआ था। इसीके पश्चात "वर्डस वर्थ" का समय आता है जो 'रोमान्टिक रिवाइ-वल' के नामसे प्रसिद्ध है। इस आन्दोलनका अभिप्राय भी यही था कि साहित्यके प्रत्येक पार्श्वमे क्रान्ति मचा दी जाय तथा उसे कुछ मुट्ठीभर पढ़े-लिखे मनुष्योंकी बपौती न बनाकर जन साधारणकी वस्तु बना देना चाहिये।" अतः यह युग ही भीषण क्रान्तिका युग था और जो कुछ भी बहुमूल्य साहित्य इस समय उत्पन्न हुआ है उसपर पग-पगपर इसकी छाप लगी हुई है।

क्रान्तिकी तो जड़ ही असन्तोषमें पाई जाती है तथा जनता एवं साहित्यज्ञोंका असन्तोष ही 'साहित्यक क्रांति' का कारण था। 'डाक्टर जानसन 'वर्डस्वर्थ' 'कोलरिज' 'कीट्स' और 'शेली' का समय क्रान्तिका ही समय था अब इनके पश्चात शांतिका समय आना भी आवश्यक ही था। परन्तु यह शांति शिथिलताकी शांति न थी वरन ध्येयके प्राप्त हो जानेके पश्चात मनुष्य जिस शांति-का अनुभव करता है वही यह शांति थी। जीवनके प्रत्येक पार्श्वमें चाहे वह राजनीतिक हो अथवा सामाजिक सभी ओर "डेमाक्रेसी" की ही वृद्धि हो रही थी और

मानसिक विकास इस समय 'विज्ञान को वृद्धिमें लगा हुआ था। इसीका फल था कि लोग सम्भवके ही अधिक पक्षपाती थे और उसीकी उन्हे खोज थी, 'असम्भव' की तलाश अब कवियों तकको न थी। साथ ही साथ इस समय 'ज्ञान-वितरण' का भी सरतोड प्रयत्न हो रहा था। अतः अतृप्त जिज्ञासा और आलोचना, अविश्वास और अनीश्वरवाद, आध्यात्मिक हलचल और द्वन्द् ये भी विज्ञानके ही सहगामी हुआ करते हैं अतः इनका प्रभाव भी यथेष्ट पड चुका था। ऐसी परिस्थिति मस्तिष्कमें स्वाभाविक रूपसे ही छानबीन एवं आलोचनाकी चाह उत्पन्नकर देती है और यह रुचिको इतना रङ्ग देती है कि फिर सिवाय 'सत्यता' की कसौटीके और कोई रह ही नहीं जाती। 'टेनीसन' के कालमें यही सब बातें यथा स्थान उपस्थित हो गयी थी। परन्तु धीरे-धीरे ये यहा तक बढ़ीं कि इस समयके जीवन और विचार दोनों हो में 'लौकिकता' (materialism) की गन्ध-सी आने लगी थी और बस यहींसे सहृदय साहित्यज्ञ अपनी अपनी ओर खिचने लगे। और एक विपरीतधारा बह निकली।

यहींसे अब यदि एक दृष्टि हिन्दी-साहित्यपर भी

डाली जाय तो "मनुष्य स्वभावकी समता" और अधिक प्रमाणित हो जायगी। यहां भी हर बातमे परिवर्तन देख पड़ता है। न तो अब पुराने राजदरबारोंकी सत्ता ही बाकी है और न नई नवेली नायिकाओंकी चाह बरन यहां भी अब चारो ओर जागृति फैल रही थी। राजा शिवप्रसाद और बाबू हरिश्चन्द्रके हाथोंमें पड़कर हिन्दी केवल आमोद-प्रमोदके क्षेत्रसे निकलकर अधिक महत्व ग्रहण करने लगी थी। अग्रेजी साहित्यकी नाईं अब यहा भी साहित्यको मुक्त करनेका प्रयत्न किया जा रहा था। स्वदेश प्रेमकी तान भी अब सुन पड़ने लगी थी परन्तु सामाजिक कुरीतियोंके प्रति जो आन्दोलन उठ रहा था उसका वेग अकथनीय था। परन्तु फिर भी 'रोमेन्टिक रिवाइवल' अथवा 'डाक्टर जान्सन' का समय अभी आने को था। ये सब तैयारियां उसीके लिये हो रही थीं। इसके पश्चात् जो युग आता है उसमे पाश्चात्यके घनिष्ट सम्पर्कके कारण विचारधाराओंमें इतना अधिक साम्य देख पड़ता है कि आश्चर्य होने लगता है। अवश्य ही समयमें तो साम्य नहीं है परन्तु धाराओंका प्रवाह एक ही दिशामें है, वेग भी समान ही है और

दोनों धाराओंके मोड़ भी प्रायः एकसे ही हैं।

यदि और अधिक व्यापक दृष्टि डाली जाय तो पता चलता है कि यहांके इस युगके साहित्यकी रचना बहुत कुछ पाश्चात्यके समान ही हुई है। प्राचीन शैली और विषय अधिक रुचिकर नहीं प्रतीत होते थे। विविध पत्र पत्रिकाओंके द्वारा यहां भी ज्ञान वितरणका यथेष्ट प्रयत्न देख पड़ता है। 'जिज्ञासा और आलोचना' की वृद्धि भी जहां-तहां हो ही रही थी यदि ऐसा न होता तो कदाचित् आज पुराने साहित्य की खोज की चर्चा भी न होता। और शायद साहित्यके अंग और उपांगों-की वृद्धिकी लोग आवश्यकता भी न समझते।

अनेक प्रकारसे समता होनेके कारण यहांकी साहि-त्यि-कसौटी भी अधिक भिन्न नहीं हो सकती थी। अतः बहुत कालसे यहांके साहित्यकी जाच भी 'वास्तविकता' अथवा 'रियलिज्म' की कसौटीपर की जाती है। क्या कविता, क्या नाटक और क्या उपन्यास सभीकी परख इसी कसौटीपर को जाती है। सर्वत्र यही देखा जाता है कि कला का यथार्थ जीवनसे साम्य है अथवा नहीं, परन्तु सौभाग्यको बात यह है कि हिन्दीमें अभी यह

अपनी पराकाष्ठा तक नहीं पहुची है, अर्थात् अभी 'लौकिकता' की सीमासे दूर है। इसलिये अभी इसके प्रति अरुचि नहीं है।

अब आज कल हिन्दीमें 'पाश्चात्य-रहस्यवाद' की एक नयी धारा बह चली है। यद्यपि यह यहां अंग्रेजीसे ही आई है तथापि वहां इसकी धारा बिल्कुल शुष्क सी हो गयी है। किसी समयमें अवश्य बड़े वेगसे बहती थी। यहांके लिये यह कोई नवीन नहीं वास्तवमें यह वस्तु थी यहीं की और सम्भव है अंग्रेजी साहित्यमें भी यहींसे गयी हो क्योंकि ब्लेक' और "क्रेशा" की कविता में भारतीय भाव और भारतीय विचार कुछ इतने अधिक मिलते हैं कि ऐसा अनुमान भी सर्वथा निराधार नहीं हो सकता। परन्तु आज-कलकी यह धारा हिन्दीमें अवश्य ही अंग्रेजीसे आई है। पर हिन्दीने जो कुछ भी अंग्रेजीसे लिया है वह प्रायः बंगला साहित्यके ही द्वारा लिया है इसलिये यह भी सम्भव हो सकता है कि यह बिल्कुल अंग्रेजीकी ही न होकर इसमें बंगलाका रङ्ग भी सम्मिलित हो गया हो। अंग्रेजीका प्रभाव तो यहांके वीर रसपर भी यथेष्ट पड़ा है जो अब बदलकर स्वदेश प्रेमके रूपमें फूट पड़ा है।

अस्तु। आज इतनी सदियोंके इतिहासपर दृष्टि डाल-
नेसे हमे यह पता चलता है कि इन दोनों साहित्योंका
प्रवाह तथा उनकी धाराएं बहुत कुछ एक सी रही हैं
बहुतसे अंशोंमे समय भी समान था परन्तु जहां कहीं
समय मे साम्य न था वहां भी क्रम तो अवश्य ही एक
सा था। अतः इस सारे साम्यको देख कर अन्तमे यही
निर्धारित होता है कि एक सी दशामे "मनुष्यका स्वभाव
तथा उसके विचार अवश्य ही एकसे होते हैं।" और
उसीका प्रतिबिम्ब तो साहित्यमें प्रगट होता है।

६

मानव-प्रकृतिमें करुणा

साहित्यके विविध अङ्गोंकी व्याख्या अथवा रसोंकी सृष्टिका इतिहास एक लम्बी गाथा है, तिसपर भी उन रसोंमें किसी एक की श्रेष्ठताका निर्णय तो और भी दुरूह है। अतः विवादसे दूर रहकर ही यदि साहित्य एवं मानव जीवनके पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्धका ही चिन्तन

किया जाय तो कदाचित अधिक उपयोगी होगा। जिस साहित्यमें जीवनकी वास्तविकता नहीं अथवा जिस जीवन पर साहित्यकी छाप नहीं वे दोनों उच्च कोटिके नहीं हो सकते। क्योंकि मानव विचार एवं कृतियोंका इतिहास ही तो साहित्य है, उनका प्रादुर्भाव एवं प्रस्फुटन, यही तो साहित्यकी सामग्री है। फिर यदि पग पगपर उचित और अनुचितका प्रदर्शन करना साहित्यका ध्येय मान लिया जाय, तो इसमें दोष ही क्या है? इस कथनका यह उद्देश्य नहीं है कि साहित्य आदर्शवादकी संकीर्ण परिधि में ही श्रृङ्खलित कर दिया जाय। सम्भव है शिक्षा ही सदा साहित्यका ध्येय न हो परन्तु प्रभावोत्पादन उसका लक्ष्य अवश्य होता है। वांछित प्रभावका उत्पन्न कर लेना यही प्रत्येक कलाकारकी ऊंचीसे ऊंची सफलता है; इसीकी प्राप्तिके लिये साहित्यके क्षेत्रमें रसोंका आयोजन किया गया था।

सिनेमाके चित्रपटकी भांति वाह्य जगतकी घटनाएं चित्तपर अंकित हुआ करती हैं तथा उनके विविध प्रभाव निरंतर पड़ा करते हैं। इन्हींके कारण मानव प्रकृति सदा एक सी नहीं रहने पाती और न उसकी रुचि ही स्थिर

रह सकती है। हमारी आन्तरिक प्रवृत्तियोंको विकसित करने वाला बाह्य जगतका जीवन-वैचित्र्य ही 'भाव' और 'विभाव' इत्यादिक नामोंसे पुकारा जाता है। परन्तु उसका जो कुछ प्रभाव हृदयपर पडता है अथवा इस पौधेके जिस रंगसे चित्त रंग सा जाताहै वही 'रस' कहलाता है। साहित्यके मर्मज्ञोंने इसके नौ विभाग किये हैं। कलाकार अपनी कृतिके द्वारा इन्हींमेंसे किसी न किसीका सृजन करता है। उसकी कृतिका प्रत्येक अंश इसी बातकी प्रेरणा करता है कि उसके द्वारा मानस वीणाके वे ही तार हिल उठें कि जिनकी झनकारमें अपेक्षित रसकी रागनी आपसे आप बजने लगे और कलाका मर्मज्ञ उसीमें तल्लीन हो जाय। इस लक्ष्यकी साधना सरल नहीं। जिस प्रकार लाल रङ्ग लालके अतिरिक्त किसी दूसरे रंगको उत्पन्न नहीं कर सकता उसी प्रकार आवश्यक है कि कलाकार पहले स्वयं उसी रंगमें शराबोर हो जाय जिसकी वह सृष्टि करना चाहता है और तब यह सम्भव होगा कि उसकी कृतिके अंग प्रत्यङ्गमें भी वही रंग झलकने लगेगा और उसमें वह शक्ति भी आ जायगी कि वह औरोंको भी उसी रंगसे रंजित कर दे।

उन्हीं रसोंमें करुणा भी एक है। अनादि कालसे काव्यमें इस रसकी भी सृष्टि होती आई है वरन् यह कहना भी अनुचित न होगा कि अन्य रसोंकी अपेक्षा इसकी परिधि अधिक व्यापक रही है। यद्यपि संस्कृत साहित्यमें प्रायः श्रृङ्गाररस ही श्रेष्ट माना जाता था पर उस काव्यमें भी भवभूति प्रभृति विद्वानोंने

एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्

कहकर इसकी श्रेष्टताकी घोषणा की थी। निष्पक्ष भावना प्रत्यक्ष सिद्ध करती है कि अन्य रसोंकी अपेक्षा स्वभावतः करुणा रस अधिक व्यापक है। परन्तु यह व्यापकता भी सहसा अथवा निष्कारण ही नहीं हो सकती। परन्तु यदि कोई यह जान जाय कि करुणा है क्या, तथा उसका मानव प्रकृतिसे क्या सम्बन्ध है तो सम्भवतः उपर्युक्त प्रश्न अपने आप हल हो जाता है। अतः परिभाषा देनेका प्रयत्न न करते हुए भी उसके समझनेका प्रयत्न किया जा सकता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि वाह्य जीवनका प्रतिविम्ब प्रति क्षण चित्तपर पड़ा करता है तथा उसमें नवीन भावनाएं उत्पन्न किया करते हैं। इन्हीं भावना-

र्ममें करुणाकी भी एक भावना हुआ करती है। इस भावनाके उठते ही चित्त भर सा आता है, वाणी गद्गद् सी हो जाती है तथा नेत्र प्राय. सजल हो जाते हैं। यह तभी होता है जब चित्तका मृदुतम भाग हिल उठता है। जिसका हृदय जितना ही अधिक कोमल होगा उसमें उतनी ही अधिक करुणा होगी। जिस प्रकार किसीका रुदन हमारे हृदयमें करुणा उत्पन्न कर सकता है अथवा किसीका खिन्न मुख चित्तको खिन्न कर सकता है उसी प्रकार सुखद घटनाएं हमारे हृदयके मृदुतम भागको स्पर्श कर सकती हैं तथा करुणा उत्पन्न कर सकती हैं। जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलकी वह घटना कि जब शकुन्तला पतिगृहके लिये विदा हो रही है। निस्सन्देह राज्य महिषी पदपर आसीन होनेके लिये उनका जाना एक सुखद घटना ही थी परन्तु पिता एवं पुत्रीका विछोह फिर भी मर्म स्थल-को स्पर्श करता ही है। तब मोहपाशसे उन्मुक्त ऋषि कण्व भी अपने आन्तरिक भावोंको नहीं छिपा सकते और वे कहते हैं :—

"अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।

ऐसे स्थल भी कम करुणा जनक नहीं होते। पढ़ते ही हृदयमें एक उथल-पुथल सी मच जाती है. नेत्र बरबस गीले हो ही जाते हैं। यद्यपि ऐसे स्थल दुखद् नही कहे जा सकते तथापि इनका प्रभाव चित्तपर करुणाजनक ही पड़ता है!

इसी प्रकार यदि शृङ्गार रसके क्षेत्रमें भी देखा जाय तो एक सच्ची विरहिणीकी पीड़ा अथवा एक सच्चे विरहीकी तप्त आह किस सहृदयके उरको नहीं पिघला देती।

(१) "मैं पुनि समुझि-दीख मन माहीं।
पिय वियोग सम दुख जग नाहीं॥

× × ×

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।
प्रिय परवार सुहृद समुदाई॥
जंह लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते॥
तनु धन धाम धरनि पुर राजू।
पति विहीन सब सोक समाजू" ॥

अथवा पतिकी उच्छृंखलता वृत्तिको देखकर एक

पतिपरायणा महिला की करुण आह किसे व्यथित नहीं कर देती ?

"मोहि भोग सों काज न वारी।
सौंह दीठि के चाहन हारी" पद्मावत

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि शृङ्गार क्षेत्रमें भी वियोग और संयोग दोनों ही अवसरोंपर ऐसी घटनायें घटती हैं जो अन्तरतमके मृदुल स्थलोंको स्पर्श कर जाती हैं और कारुणिक भावनाकी उत्पत्ति कर देती हैं।

इसी प्रकार रौद्र अथवा भयानक रसोंके क्षेत्रमें भी ऐसे अवसर प्रायः आ जाते हैं जहां हृदय द्रवित हो जाता है। जैसे शेक्स्पियरने अपने 'कोरियालेनस' नामक नाटक में एक स्थलपर चित्रित किया है कि वीर 'कोरियोलेनस' अपने देशके विरुद्ध विपक्षकी सेनाका नायक बनकर आया है। देशका किसी प्रकार त्राण न देखकर उसकी माता उसके पास देशकी रक्षाकी भिक्षा मांगने जाती है। परन्तु वह क्रोधके आवेशमें माताका भी तिरस्कार कर देता है। उसी समय वृद्धा माता अपने पुत्रके सामने घुटने टेक देती है। तब कोरियोलेनसकी चित्त-वृत्ति अपने आप बदल जाती है और वह कहता है—

What is this ?

Your knees to me ? To your corrupted son !

कैसा दृश्य है ! अनुमान करते ही किसका हृदय विचलित न हो जायगा ? इसी प्रकार 'ओथेलो' में जिस समय क्रोधकी ज्वालामें जलता हुआ ओथेलो डेस्डिमोनासे कहता है—Think on thy sins, उस समय डेस्डिमोना कहती है They 're loves I bear to you इसी प्रकार नर पिशाच बना हुआ ओथेलो डेस्डिमोनाकी हत्याके लिये उसके कमरेमें प्रवेश करता है तो उस भयानक अवसरपर उस दया-शून्य रौद्र-मूर्तिके हृदयमें भी एकबार मानव हृदय फडक उठता है और वह कह उठता है—

"When I have plucked the rose, I can not give it vital growth again. It needs must wither ; I'll smell it on the tree—(kissing her)

O balmy my breath, that dost almost pervade.

Justice to break her record : one more one more.

Be thus when thou art dead,
and I will kill thee,
And love thee after—
one more and that is the last :
So sweet was ne'er so fatal.
I must weep
But they are cruel tears
this sorrow's heavenly
It strikes where it doeth love."

यही वास्तविक करुणा है जो निरपेक्ष्य भावसे मनुष्य के हृदयमें सर्वत्र तथा सब कालोंमें वर्तमान रहती है। कुछ विद्वान तो इसीमें मनुष्यताकी विशेषता देखते हैं। उनका तो कहना है कि मानव हृदयका वही वास्तविक रस है जिसकी अविरल धारा अश्रुकणोंमें प्रवाहित होकर निरन्तर हृदय प्रदेशको धोकर निर्मल किया करे। शान्त और करुणा रसमें तो यह धारा इतने वेगसे बहती है कि वहां अच्छे अच्छोंका टिकना कठिन हो जाता है। मनुष्य प्रतिक्षण बहता है और संभलता है परन्तु विचित्रता तो

यह है कि प्रत्येक गोतेके बाद मनुष्य अधिक निर्मल होकर ही निकलता है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य स्वभावसे ही शृङ्गार प्रिय है और उसे उसीमे आनन्द मिलता है—तथा हास्यमे उसका हृदय खिलसा उठता है तो भला करुणामें क्या होता है और हृदय धुलकर निर्मल कैसे हो जाता है? यद्यपि सजल नेत्र तथा खिन्न हृदय इसके आवश्यक अनुभव है तथापि इनके अतिरिक्त भी इसमे कुछ ऐसी कोमल भावनाओंका उद्रेक होता है जो केवल अनुभवकी ही वस्तुएँ हैं। उनका वर्णन किसी प्रकार संभव ही नहीं है। हृदयकी इन कोमल भावनाओका प्रजागरण जीवनपर कितना प्रभाव डालता है तथा जीवन मे इसका कितना मूल्य है। इसको प्रसिद्ध विद्वान Aristotle ने Tragedy की उत्पत्तिके समयमें कहा था कि यदि सुधार साहित्यका ध्येय हो सकता है तो उसके केवल दो मार्ग हैं। एक तो अच्छे अच्छे तथा ऊंचेसे ऊंचे आदर्श सम्मुख रखकर सुधारके मार्गपर अग्रसर होनेके लिये प्रोत्साहित करना तथा दूसरा है मनके कलुष-को धोकर उसे निर्मल करना। इस दूसरे मार्गको उसने

system of catharsis कहा था अर्थात् दुखान्त घटना-ओंके द्वारा आन्तरिक कोमल भावनाओंको उकसाकर चित्तको दोषोंसे दूर हटाना।

प्रत्येक देशके साहित्य सेवियोंके आदर्श उनकी भिन्न परिस्थितियोंके अनुसार भिन्न हुआ करते हैं अतः पाश्चात्य साहित्य सेवियोंने देखा था कि दूसरा भाग ही उनके अधिक अनुकूल पडता है। अतः वहांके साहित्यमें comedy के होते हुए भी प्रायः tragedy का ही बाहुल्य है वरन् यह भी कहना अनुचित न होगा कि उन्हे tragedy मे ही अधिक सफलता भी मिली है। इसीके प्रत्युत यदि भारतीय साहित्य पर एक दृष्टि डाली जाय तो यद्यपि संस्कृत कालमें tragedy लिखना वर्जित सा था तथापि जगह जगह पर करुणाका सहारा लेना ही पडता था।

संस्कृत युगके उपरांत फिर तो किसी प्रकारका निषेध था ही नहीं अतः आजतक अच्छीसे अच्छी रचनाएँ लोगोंने इसी रसमें की। यद्यपि समय समय पर इसके पोषणकी नयी नयी शैलियां निर्मित की गयीं परन्तु ध्येयमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ सका। यहांकी इस प्रवृत्तिके लिये देश और काल भी कुछ अधिक अनुकूल

रहा है। क्योंकि देखा यही गया है कि कोई भी पराधीन देश जिसने युगोंसे पीड़ा और आपत्तियोंको छोड़कर सुखकी छाया ही न देखी हो वह करुणाके अतिरिक्त हास्य अथवा श्रृङ्गारकी सृष्टि कर ही नहीं सकता। क्योंकि किसी भी रसकी सृष्टिमें रचयिता अथवा काव्यकारकी मानसिक अवस्थाका प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता है। अतः यहांकी परिस्थिति करुणारसको छोड़कर और किसी रसके उपयुक्त थी ही कब ?

इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी है कि मानव हृदयकी 'कारुणिक-प्रवृत्ति' जितनी व्यापक है उतनी दूसरी नहीं है। हास्य अथवा शृंगारके परिपाकके लिये कुछ विशेष साधनोंकी आवश्यकता पड़ती है तथा इनके मार्ग एवं ढंग भी भिन्न भिन्न हैं। उनपर देश और काल-का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा करता है तथा वे निरन्तर परिवर्तन शील हैं। परन्तु दया और करुणाका रूप सर्वत्र एक सा रहता है। करुणाकी मूक भाषा इतनी गम्भीर तथा इतनी सुदूर-व्यापिनी होती है कि उसके लिये किसी विशेष आयोजनकी आवश्यकता नहीं। मनोविज्ञान के ज्ञाता चाहे जिस शब्दावलीमें भाषा बद्ध करें परन्तु

करुणाका तथ्य विश्वव्यापी है। हृदयका एक छोटासे छोटा कोना भी यदि कोमल है तो वह भी करुणासे अछूता नहीं बच सकता। इसकी यह व्यापकता ही इसकी शक्ति है। इसे अंग्रेजी भाषामें लोग प्रायः human weakness भी कहा करते हैं। यह शक्ति है अथवा कमजोरी यह तो दृष्टिकोण पर निर्भर है परन्तु हृदयकी कोमलता ही उसका स्वाभाविक गुण है। पाषाणकीसी कठोरता उसमें लाई अवश्य जा सकती है परन्तु ऐसे उद्योग अस्वाभाविक ही कहे जायंगे।

यदि स्वाभाविक मनोवृत्तियोंका संयुजन ही स्वाभाविक जीवनकी प्रणाली है तो निस्सन्देह करुणा ही मानव प्रकृतिकी प्रधान प्रवृत्ति है और उसीका क्षेत्र सर्वव्यापी है।

इति

विषय परिशिष्ट

(-)

(॥)

नाम-परिशिष्ट

शुद्धिपत्र

नोट—यों तो आजतक हिन्दीकी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी जिसमें छपाईकी अशुद्धियां न हों और कदाचित् इसी कारण पाठक भूलोंका सुधार कर पढ़ लेनेके अभ्यस्तसे हो गए हैं। यद्यपि यह परिस्थिति वाञ्छनीय नहीं तथापि काबूसे बाहर अवश्य है। इस छोटी सी पुस्तकमें भी ऐसी न जाने कितनी भूलें हैं लेकिन कुछ तो दुर्भाग्यवश ऐसी हैं कि वे यदि शुद्धिपत्रकी सहायतासे न पढ़ी जायं तो मतलब ही खफ्त हो जायगा अत कुछ ऐसी ही भूलोंके लिए यह पत्र लगाया गया है शेष पाठक स्वयं शुद्ध कर लेंगे।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१०	ऊपर	
६	१५	महावरा	मुहावरा
	१६	यंजना	व्यंजना
१२	१६	सहजा	सहजो
१६	१६	साहित्यके	साहित्य
२५	२	पहले	पहली
२८	१	अतर	अन्तर
३७	५	प्रयोजना	आयोजना